श्री गीता

"श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी"

तृतीय अध्याय

कर्मयोग अर्थात् कर्मकाण्ड

सार्थ सविवरण हिन्दी अनुवाद

लेखक :
डॉ. गो. रा. उपळाईकर, फलटण

अनुवादक :
श्री. म. दा. बरसावडे M. A.
भारतीय हिन्दी पारंगत, फलटण

श्रीमान राजा त्र्यंबकराज (रायरायान) ने श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अध्याय तीन के महत्व को जानकर उसके हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन की आयोजना नितांत प्रेम से की है। इससे राजासाहेब के अंत:करण की उदारता ही प्रतीत होती है - अतः उन्हें धन्यवाद।

— डॉ. गो. रा. उपळाईकर
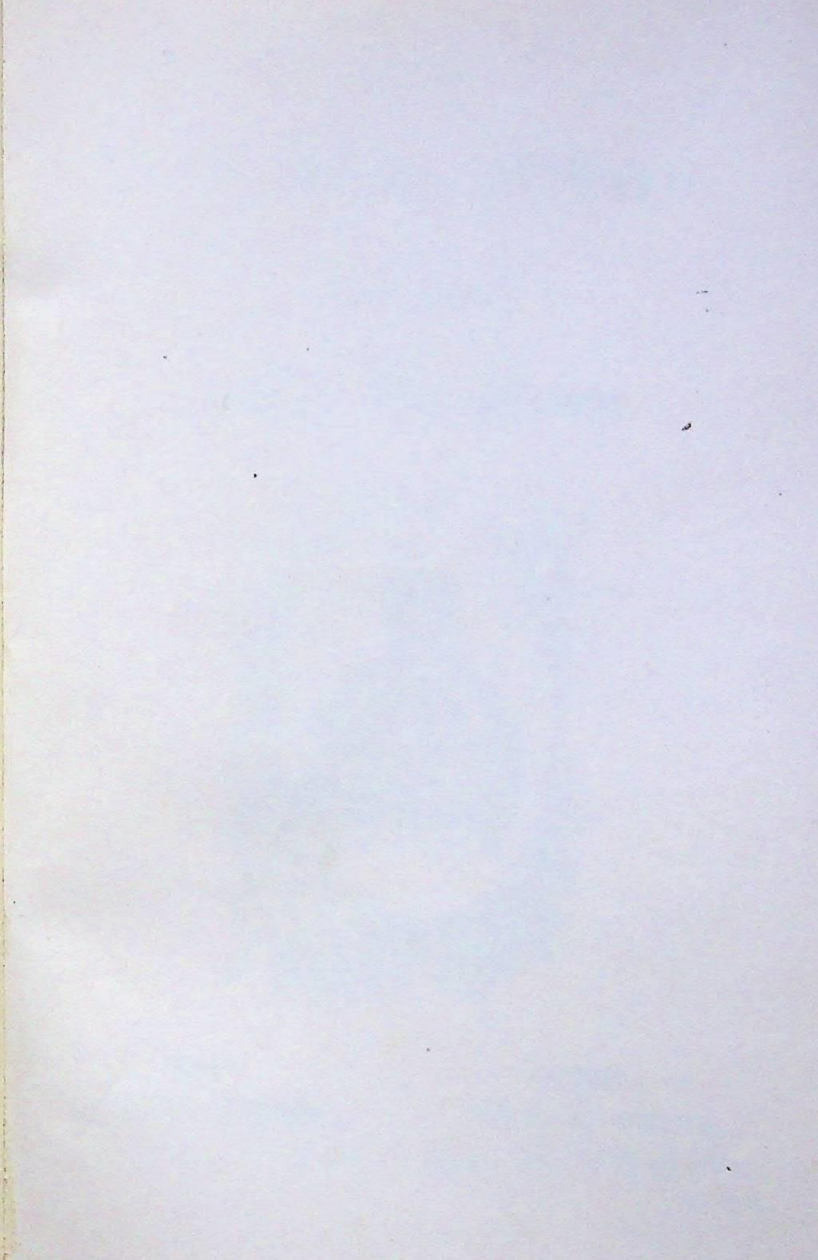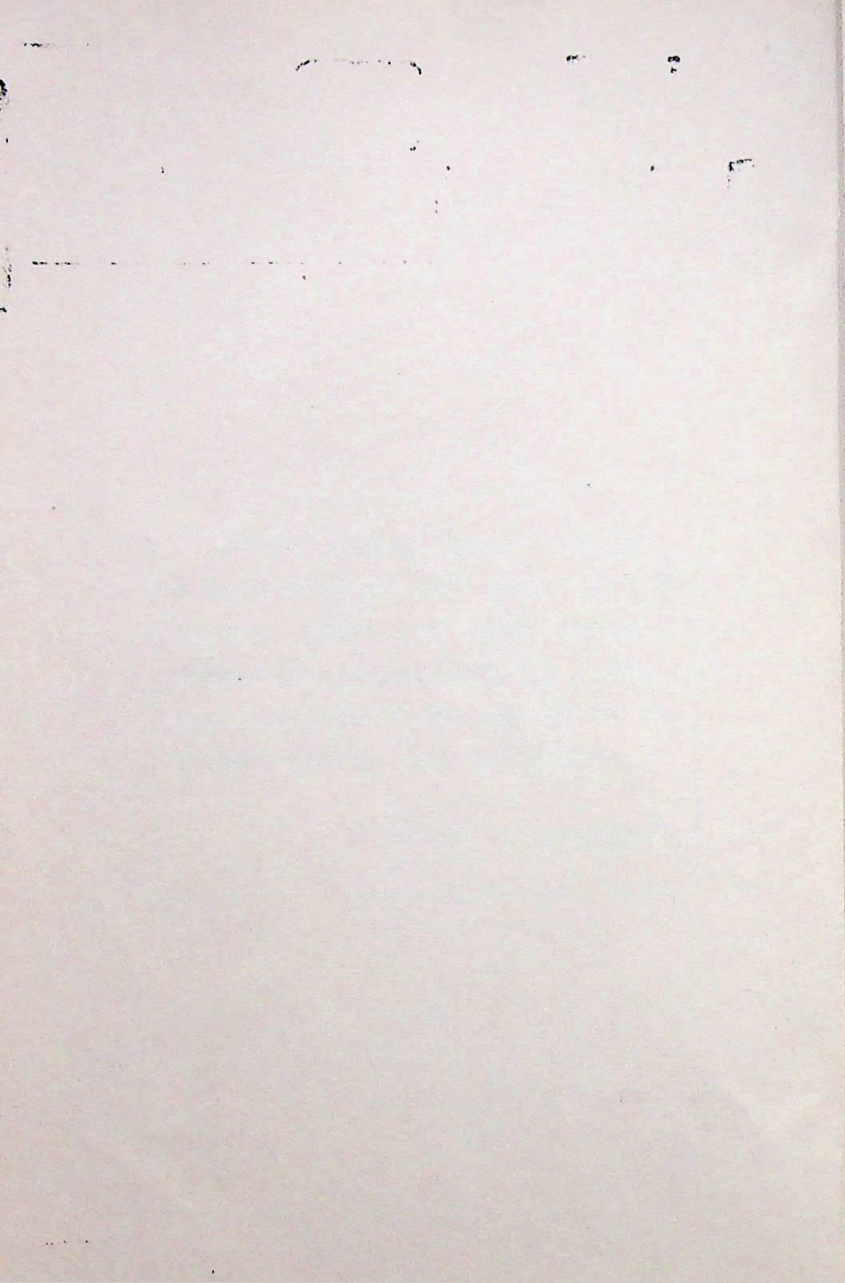
श्री गीता

" श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी "

तृतीय अध्याय

कर्मयोग अर्थात् कर्मकाण्ड

लेखक :
डॉ. गो. रा. उपळाईकर,
फलटण.

अनुवाद :
श्री. म. दा. बरसावडे,
एम्.ए., भारतीय हिन्दी पारंगत,
फलटण.

प्रकाशक :

राजा त्रिबकराज रायरायान,

– हैदराबाद.

विजयादशमी शके १८९१.

२० ऑक्टोबर १९६९.

मुद्रक :

श्री यशवन्तराव जोशी

श्रीकृपा मुद्रणालय,

गौलीगुडा, हैदराबाद–आं. प्र.

श्री जगज्जीवन

ज्ञानेश्वर माऊली के

चरण-कमलों में

सविनय

समर्पित

श्री श्री श्रृंगेरी जगद्गुरु महासंस्थानम्,
श्रृंगेरी मठ शारदापीठम्

पो. श्रृंगेरी–कडूर, (मैसूर स्टेट्).

विद्यायें बहुतसी हैं। उन सबमें अध्यात्मविद्या श्रेष्ठतम है। हम दूसरी कितनी भी विद्यायें सीखें परम लक्ष्यतक न पहुंच सकते हैं। सभी जीवों का एकमात्र लक्ष्य शाश्वत सुख ही है। उस सुखको हम तभी प्राप्त कर सकते हैं कि जब हम अध्यात्म-पथपर साधन सम्पन्न होकर चलें।

उस अध्यात्मपथ का दर्शन हमें भगवान की वाणी भगवद्गीता में मिलता है। उसमें बताये साधनों को अपनावें तो जरूर हम जन्म सफल बना सकेंगे। यह गीता भारत में ही नहीं संसारभर में कितने ही अशान्तमानस लोगों को शान्ति दे चुकी है। देती है और देती रहेगी।

कई मनीषियों ने अपने अपने संस्कार के अनुसार इस पर टीकायें लिखीं। महाराष्ट्र के भागवतोत्तम श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज ने जो टीका लिखी वह इतनी सरल और सरस है कि इसकी उपमा नहीं दी जा सकती। वह महाराष्ट्र भाषा में

है। श्री उपळाईकरजी (फलटन) ने गीता ज्ञानेश्वरी पर विवरण इतना अच्छा लिखा है कि मानों सोने में सुगन्ध आ गयी हो।

श्री म. दा. बरसावडेजी ने सुन्दर अनुवाद इस उद्देश से किया कि हिन्दी जनता भी उसका परिचय पावे और ज्ञान प्राप्त करे। हमने अनुवाद यत्र तत्र देखा। सुन्दर और सरस जान पडा।

इस अनुवाद का दूसरा मुद्रण होनेवाला है। हम चाहते हैं कि यह अनुवाद हिन्दी जनता में खूब प्रचार पावे और अध्यात्म ज्ञानलाभ में साधन बने रहे।

३०-६-१९६९.
शृं गे री.

इति नारायणस्मरण

विद्यातीर्थः
२

प्रकटन

ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अध्याय ३ "कर्मयोग" के हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि यह एक प्रथम प्रयास है। उपमा आदि अलंकारों से ग्रंथ की न जाने, कितनी शोभा बढती है। मन प्रसन्न होता है; माता सरस्वती की कृपासे जीवन–सौरभ की अनुभूति प्राप्त होती है और लोग चर्चा करने लगते हैं कि यह जन्म अत्यन्त रमणीय और उच्च श्रेणी का है। जिस तरह 'दीप देहरी द्वार' के कारण बाहर भीतर सर्वत्र प्रकाश फैल सकता है, उसी तरह भगवान के नामस्मरण से बाह्य संसार और अन्तःकरण दोनों आनन्दमय बनते हैं। ज्ञानेश्वरी के उपमादि अलंकारों से जनता यह बात समझ सकेगी कि इस अनुवाद में हिन्दी भाषा का तारुण्य, ऐश्वर्य, सौरभ और सौन्दर्य किस कोटि का है। आशा है कि अनुवादक की योग्यता के कारण हिन्दी भाषी पाठक मूल ग्रन्थ का आनन्द प्राप्त कर सकेगा।

भाषा के सुप्रयोग से ईश्वरी सामर्थ्य का वर्णन अच्छे ढंग से किया जा सकता है। सन्त लोगोंकी रचना "ईश्वर और

मानव" में अद्वैत की स्थापना करती है। इन रचनाओं के कारण हम मनुष्य–शरीर के सामर्थ्य में ईश्वर के कर्तृत्व का साक्षात्कार करते हैं। हमारा जीवन इस सृष्टि के लिए अलंकरण का कार्य करता है। हमारा महत्व ईश्वर के महत्व का प्रतिपादन करता है। आज तक जितने सन्तोंने इस प्रकार के अद्वैतत्व का प्रतिपादन किया है, या भविष्य में जो सन्त होंगे उनके भावों को हृदयंगम करने के लिए यह कृति सहायक हो सकती हैं। जीवन की सफलता लोकप्रियता में है।

श्रीकृष्ण तथा व्यास आदि का उपदेश ज्ञानरूपी रत्नों की खान है। सद्‌गुरु के उपदेश रूपी सूर्य के अभाव में यह खान अन्धकार से आवृत्त रहती है। ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित मार्ग के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान सद्‌गुरु के उपदेशरूपी सूर्य की किरणों से नष्ट होता है।

साहित्य की उत्कृष्ट रचना प्राप्त होना सन्तोंकी कृपा ही समझिये। इस प्रकार की कृतियों का श्रेय सन्त लोगों को मिलना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण के विचार श्री गीता में व्यक्त हुए हैं। गीता अध्यात्म का अलौकिक ग्रन्थ है। श्री ज्ञानेश्वर के समान दिव्य महापुरुष ने संसार के साहित्य को इस ग्रन्थ से सुशोभित किया है। हीरे से स्वर्ण की शोभा बढती है। मराठी ज्ञानेश्वरी की विचार सम्पत्ति से हिन्दी भाषियों की मननशीलता की वृद्धि

होगी । उपमा तथा अन्य अलंकारों से सुशोभित मराठी भाषा की विशेषता हिन्दी में भली प्रकार से व्यक्त हुई है । ज्ञानेश्वरी का हिन्दी अनुवाद रसिकों के लिए वसन्त ऋतु के रमणीय उद्यान के समान विश्रान्तिस्थल प्रतीत होगा ।

ऋषि, मुनि, सन्त और महात्माओं ने वीतराग होकर ज्ञान की जो परम्परा स्थापित की है उसे हम साहित्य के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं । संसार में साहित्य का महत्व इस तरह भी माना जाता है कि उसके द्वारा पूर्ण विकसित मानवी जीवन का आनन्द प्राप्त होता है । 'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान सर्वत्र पूज्यते' इस सूक्ति के अनुसार प्रत्येक साहित्य प्रेमी की यह अभिलाषा हो सकती है कि ज्ञानेश्वरी के सौन्दर्य स्थल विद्वत्ता और कलाके साथ भावपूर्ण भाषा में अन्य भाषा भाषियों के सम्मुख भी प्रस्तुत किए जायें ।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज के विचार व्यापक होने के साथ साथ बहुत सूक्ष्म हैं । इन विचारों को विस्तार के साथ हिन्दी में प्रकट करने का दायित्व विद्वानों पर है । इस प्रकार के प्रयास से हिन्दी भाषी जनता सूरदासजी और तुलसीदासजी के साथ साथ ज्ञानेश्वर महाराज के भावों से भी परिचित हो सकेगी ।

ज्ञानेश्वरी के भाव अनिर्वचनीय हैं । एक भाषा के भावों को दूसरी भाषा में रूपान्तरित करना उस समय तक सम्भव

नहीं है जब तक कि दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार न हो। ज्ञानेश्वरी के सूक्ष्म भावों को हिन्दी में इसलिए सरलता से व्यक्त किया जा सकता है कि इस भाषा में भी सन्त–साहित्य की पुरानी परम्परा है। दोनो भाषाओं पर समानरूप से अधिकार रखनेवाले विद्वानों के हाथों यह काम होना चाहिए। ज्ञानेश्वरी एक सिद्ध ग्रन्थ है। प्रमेयों की अधिकता के कारण भाव सौरभ को फैलानेवाली उपमा आदि से अलंकृत यह ग्रन्थ भावपूर्ण हिन्दी भाषा में अनुवादित हो इतनाही पर्याप्त नहीं है। हिन्दी में इस ग्रन्थ का तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

विद्वान और रसिक लोग इस अनुवाद से लाभ उठायेंगे। इस आशा के साथ मैं अपना निवेदन समाप्त करता हूँ।

भगवान दामोदर देशपांडे
शिक्षक – मुधोजी हायस्कूल
फलटण

डॉ. गोविंद रामचंद्र उपळाईकर–फलटण

भूमिका

श्रीमत् भगवत् गीता के दूसरे अध्याय में श्री भगवान कहते हैं कि "यह नहीं कि मैं पहले कभी नहीं था, या तू भी इसके पहले कभी नहीं था। अथवा न ये राजा थे या हम सब आगे चलकर नहीं होंगे। (२-१२) बाल्य, तारुण्य तथा वार्धक्य ये तीन अवस्थाएँ जिस प्रकार एक ही शरीर में सम्भव है, उसी प्रकार एक ही आत्मा को भी दूसरे शरीर की-अवस्था की प्राप्ति होती है। यह जानकर ही ज्ञानवान् देहांतर के सम्बन्ध में मोह से लिप्त नहीं होते। (२-१३).

जो इन्द्रियों के अधीन है उसे दुःख भुगतना पडता है।

हे अर्जुन ! मात्रा के माने है इन्द्रिय। मात्रास्पर्श का मतलब है इन्द्रिय तथा उनके विषयों के बीच परस्पर सम्बन्ध। यह सम्बन्ध शीत-उष्ण, सुख-दुःख दिलानेवाला तथा द्वंद्वात्मक है। विषयों का संबंध उत्पत्तिनाश रूप होने से वह अनित्य है। उन्हें मिथ्या मानकर ही हे अर्जुन ! सहना चाहिये। (२-१४)

इन्द्रियों का अपना धर्म ही यह है कि उन्हें विषयों के सिवा इस जगत् में और कुछ भी नहीं भाता। (१२०). मृगजल तथा स्वप्न में दीख पडनेवाले हाथी के समान ये विषय केवल भासात्मक तथा अनित्य है। अतः हे पार्थ ! उनकी

कदापि संगति नहीं करनी चाहिये। उन्हे तू अवश्य त्याग दे। (१२२).

जो जीतेंद्रिय है वह सुखदु:खातीत है।

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख दु:ख समान (मिथ्या) मानने वाले धैर्यवान व्यक्ति को विषय संबंध बाधित नहीं करते। वही मोक्ष को पात्र है। (२-१५).

जो विषयों के अधिन नहीं वह मनुष्य सुख तथा दु:ख से परे रहता है। उसे गर्भवास तक सम्भव नहीं। वह फिर से नही जन्मता। (१२३). हे अर्जुन ! जो इन विषयों के पाश में नहीं फँसता वही अविनाशी है। यह निश्चित रूपसे समझ ले। (१२४).

जो मिथ्या है, असत्य है वह कभी सत्य नही हो सकता। उस की सत्ता नही होगी। जो सत्य है वह कभी नष्ट नही हो सकता। तत्वदर्शी इस सत्-असत् के परिणाम को जानते है। २-१६).

जो सज्जन है उसें अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक दु:खद ठहरती है। (२-३४).

हे अर्जुन ! युद्ध के लिये निश्चय करके तैयार रह।

(२-३७).

इस रण में युद्ध करते हुये यदि तुझे मरण भी प्राप्त हो गया तो सहज निरामय स्वर्ग सुख का भोग करेगा ! (२२०). अत: हे अर्जुन इसके निमित्त अब विचार करते बैठना उचित

नहीं। उठ, हाथ में धनुष ले और शीघ्र युद्ध आरम्भ कर (२२१)। स्वधर्म का आचरण करने से शरीरस्थ दोष नाश होते हैं। इतना होने पर भी उस (स्वधर्म) के आचरण से पाप लगेगा यह भ्रम तेरे मन में कहां से उत्पन्न हुआ ? (२२२). तू ही बता कि नाव में बैठा हुआ कभी डूबेगा क्या ? इसी प्रकार उत्तम मार्ग से चलने वाले का कभी ठोकर खाकर गिरना सम्भव है क्या ? (२२३). दूध पीने से मृत्यु नहीं होती। परन्तु उसे विष के साथ सेवन करने वाला अवश्य मरेगा। ठीक इसी प्रकार फल की आशा से किये हुये स्वधर्म के आचरण से अवश्य पाप लगेगा। (२२४). अतः हे अर्जुन ! निष्काम होकर तू क्षत्रियधर्म से युद्ध कर। इससे पाप का लेश मात्र भी तुझे स्पर्श न करेगा। (२२५).

सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय, पराजय सब समान समझ कर युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जा। इससे तुझे कभी पाप नहीं लगेगा। (२–३८).

अर्जुन को युद्ध करने की आज्ञा देते हुवे श्री भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! सुख प्राप्त होने पर संतोष न मानो, दुख प्राप्त होने पर खेद न करो और लाभालाभ मन में न आने दो। (२२६). इस समरांगण में अपनी जय होगी अथवा अपने को मरण प्राप्त होगा इस बात का सोच विचार पहले से ही न करो। (२२७). स्वधर्म द्वारा आचरण करते हुये जो जो शुभ अशुभ प्राप्त हो उसे स्वस्थ चित्त होकर सहन करो। (२२८). इस रीति से मन का निश्चय किया जाय तो सहज ही दोष

नहीं रहेंगे इस लिए तू निश्चय करके अब युद्ध आरम्भ कर। (२२९).

हे पार्थ। अभी तक तुझे सांख्य बुद्धि अर्थात परमार्थ शास्त्रानुसार ज्ञान का उपदेश दिया। अब योग संबंधी बुद्धि जिसके द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त होगा। श्रवण कर। (२-३९).

धर्म के अल्प अनुष्ठान से भी बडे भय से छुटकारा मिलता हे। (२-४०).

निष्काम कर्म करते हुये पाप नहीं लगता। यहां तक यह ज्ञानयोग तुझे संक्षेपतः सुनाया अब बुद्धि योग (कर्म का ज्ञान से सम्बन्ध अर्थात कर्म योग) समझाता हूं श्रवण कर। (२३०). हे अर्जुन। जब पुरुष बुद्धि योग को प्राप्त कर लेता है तब उसे कर्म बन्धन की कदापि बाधा नहीं होती। (२३१). शरीर पर वज्र कवच धारण करने पर पुरुष शस्त्रों की वृष्टि सहन करते हुवे विजयी व सुरक्षित रहता है। (२३२).

निष्काम कर्म से कभी कोई पापलिप्त नही होता। बुद्धियोग का महत्व :

हे अर्जुन ! वेदों में सत्व, रज, तम आदि तीन गुणों का वर्णन किया गया है। अतः तू भी गुणातीत हो। "मैं-मेरा" का द्वंद्व छोड दे। शुद्ध सत्वगुण से स्थिर रह। योगक्षेम की चिन्ता मत कर ! अन्तःकरण आत्मस्वरूप में लीन रहने दे। (२-४५).

तू निश्चित रूपसे यह ज्ञात कर ले कि वेद तीनों गुणों से

(सत्व, रज, तम) युक्त है अतः उपनिषद् ही सत्वगुणयुक्त कहलाये जाते हैं। (२५६). हे धनुर्धर, अन्यत्र कर्म तथा उपासना का पर्याप्त विवेचन है। वे सभी रज तथा तमोगुण से युक्त है। उनके द्वारा स्वर्ग की उपलब्धि है। (२५७). अतः यह निश्चित है कि ये सभी सुखदुःख के कारण है। तेरा मन भी कदाचित उनकी ओर झुक जायेगा अतः सावधान ! उस ओर मत जा। २५८.

इन त्रिगुणों की त्रिपुटी छोड दे ! अहंता तथा ममता छोडकर आत्मानन्द का विस्मरण अन्तःकरण में कभी न होने दे। (२५९). तू कर्म का अधिकारी है। किन्तु कर्मफल का अधिकारी मत बन ! कर्मफल की इच्छा तक भी न रहे। साथही कर्म न करने का आग्रह भी त्याग दे। (२-४७). अतः हे पार्थ, सुन सभी बातों का विचार करनेपर स्वकर्म ही तेरे लिये उचित है। (२६४). हमने सर्वकष विचार किया है। यह मेरी निश्चित राय है कि तू किसी भी प्रकार कर्तव्य कर्म को मत त्याग दे। (२६५). कर्म कर्तृत्व का अभिमान छोडकर, फलेच्छा का त्याग कर केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करते रह। प्रारब्ध कर्म पूरा होनेपर भी हर्ष तथा शोक नहीं मानना चाहिए। सुख तथा दुःख के प्रति जो समता उसेही योग कहते हैं। (२-४८). हे अर्जुन ! योगयुक्त होकर तू फलेच्छा छोड दे। मन लगाकर कर्तव्य कर्म करते जा। (२६७). परन्तु आरम्भ किया गया कार्य दैवयोग से परिपूर्ण हुआ तो भी उसका सन्तोष नहीं मानना चाहिये। (२६८). अथवा किसी कारणवश

वह कार्य अधूरा रहा, असिद्ध हुआ तो भी किसी प्रकार असंतोष मानकर उद्विग्न मत हो। (२६९). कर्म के अनुष्ठान से अगर वह सिद्ध हुआ, परिपूर्ण हुआ तो सचमुचही वह सफल हुआ परन्तु यदि किसी विघ्नवश वह अधूरा रहा तो भी वह निश्चित सफल हुआ है, यही समझ ले ! (२७०). जो कुछ और जितना कर्म होता है वह ईश्वर को समर्पित करने से वह अनायासही परिपूर्ण तथा सफल होता है। (२७१). और एक बात है कि शुभ तथा अशुभ कर्म के प्रति समान मनोधर्म होना आवश्यक है। श्रेष्ठ लोग इसेही योगस्थिति कहते है। (२७२).

हे अर्जुन ! ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये कर्म की अपेक्षा फलासक्ति से हुआ कर्म सचमुचही कम पात्रता का है। अतः बुद्धियोग की शरण ले। कर्मफल की इच्छा रखनेवाले निःसंशय अति दीन है। (२-४९). हे अर्जुन ! जहाँ मन (क्रिया) तथा बुद्धि (ज्ञान) का सामरस्य है वहीं केवल चित्तकी समता है। यही योग का सारसर्वस्व है। (२७३). परन्तु जब उसी कर्म का अनुष्ठान होगा तब बुद्धियोग की सिद्धि है। जब कर्मसिद्धि होती है तब योगस्थिति कहलाती है। (२७५). बुद्धियोग संपन्न व्यक्ति कर्म के फल पाप या पुण्य से इसी लोकमें मुक्त होता है। अतः समत्वबुद्धि प्राप्त कर ले। कर्म का कौशल वस्तुतः उसे ईश्वरार्पण करनेमें ही है। (२-५०). हे अर्जुन ! यदि उन्होंने कर्म किये तो भी वे फलेच्छा से परे रहते है। अतः जन्ममृत्यु से भी दूर रहते है। (२-५१।२७८). जब तेरी बुद्धि मोहरूप पाप से मुक्त होगी तब तू श्रुत तथा श्राव्य से विरक्त

होगा । (२–५२). इसी द्वारा निर्दोष तथा निगूढ आत्मज्ञान तुझे प्राप्त होगा और उसके पश्चात् तेरा मन अपनेआप तृप्त रहेगा । इस अवस्था को प्राप्त होने पर भूत तथा भविष्य विचार अपने आप लुप्त होंगे । (२८२).

वेदोक्त भिन्न भिन्न प्रकार के वाक्य श्रवण करने से भ्रांत हुई तेरी बुद्धि जब आत्मनिष्ठ होगी तब तू योगारूढ होगा । (२–५३).

इन्द्रियों की संगति के कारण बुद्धि चंचल होती है । आत्मस्वरूप की उपलब्धि होनेपर वही अनायास स्थिर होती है । (२८३). जब तेरी बुद्धि समाधि सुख में स्थिर होगी तभी योगस्थिति सिद्ध होगी । (२८४).

श्री अर्जुनजी कहते है– "हे केशव ! जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जो योगस्थ–समाधि अवस्था में पहुंचा है, उसे इस लोक में क्या कहते है ? वह कैसे बोलता है ? कैसे रहता है ? कैसे बर्ताव करता है ? (२–५४).

स्थित प्रज्ञ (अ. २)

१) जो कामनिवृत्त है वह स्थितप्रज्ञ है । (५५)

२) जो उपाधिरहित है वह स्थितप्रज्ञ है ।

३) जो हर्षशोकरहित है वह स्थितप्रज्ञ है । (५६)

४) जिसके अंकित इन्द्रिय है वह स्थितप्रज्ञ है ।

५) जिसके रागद्वेष नष्ट हुए है वह स्थितप्रज्ञ है । (५७)

६) हृदय की प्रसन्नता प्राप्त होनेपर बुद्धि स्थिर होती है।

७) इन्द्रियों का दमन योगनिष्ठा निर्माण करता है।
(५८)

आहार (विषय सेवन) न करनेवाले व्यक्ति के संबंध में विषय नही के बराबर रहते है किन्तु विषय प्रीति शेष रहती है। ब्रह्मसाक्षात्कार होनेके बाद वह भी नही रहती। (२-५९),

जिस प्रकार, पानी के आधार पर वृक्ष परिपुष्ट (लंबाचौडा) होता है, उसी प्रकार रसनाद्वारा अन्तःकरण में विषय अधिकाधिक परपुष्ट होते हैं। (३०६). अन्य इन्द्रियों के विषय दूर हटानेपर (कम करनेपर) कम हो सकते हैं किन्तु हठ से जिह्वा का विषय कम नही हो सकता। क्यों कि वह जीवन है, उसके सिवा शरीर निर्वाह नही। (३०७). किन्तु हे अर्जुन ! साधक जब परब्रह्म साक्षात्कार अनुभव करता है, तब रसना का भी सहज ही नियमन होता है। (३०८. जब यह अनुभव किया जाता है कि "हम ब्रह्म है" तब शरीर व्यापार तक निःस्तब्ध होता है और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का स्मरण भी नही होता। (३०९).

हे अर्जुन ! विद्वान् मनुष्य का इन्द्रिय निग्रह का प्रयत्न, ये बलसंपन्न इन्द्रिय असफल करते हैं, उसके मन को हठात् अपनी ओर घसीट लेते हैं। (२-६०)

ऋद्धि-सिद्धि के रूपमें ये विषय योगी को प्राप्त होते है

और इन्द्रियों के द्वारा योगी का मन भ्रष्ट होता है। (३१३). इस अवस्था में मन फँसता है तथा अभ्यास भी नही हो सकता। इन्द्रियों की शक्ति इस प्रकार है। (३१४).

अत: उन सभी इन्द्रियों का निरोध करके ज्ञानी व्यक्ति को चाहिये कि वह अपना मन स्थिर करे। जिसके इन्द्रिय स्वाधीन है वही निश्चल बुद्धियुक्त है। (२-६१).

अत: हे पार्थ ! सभी विषयों की इच्छा छोडकर जो इंद्रियों को जीत लेता है-(३१५), तथा जिसका अंत:करण विषयसुख के लिये नहीं ललचाता, वही योगनिष्ठा का पात्र है। (३१६). क्यों कि वह आत्मबोध से ओतप्रोत है। उसे कभी मेरा विस्मरण नहीं होता। (३१७). अगर कोई बाह्य विषयों को छोडकर कर्मेंद्रियों का निरोध करके स्वस्थ है, किन्तु मन में विषयों की अभिलाषा है तथापि वह जन्ममृत्यु के झंझट से मुक्त नहीं। (३१८). विष की अल्प मात्रा सेवन करनेपर भी, वह शरीर में प्रवेश करके फैलकर जीवन का नि:संशय विनाश करती है - (३१९), उसी प्रकार विषय की थोडीसी अभिलाषा भी विचार समूहका घात करने में समर्थ है। (३२०).

राग तथा द्वेष को छोडकर जिसने अपने इंद्रियों को स्वाधीन रखा है, उसके द्वारा यदि विषय सेवन हुआ तो भी उसके अंत:करण की प्रसन्नता अबाधित रहती है। (२-६४).

अत: अंत:करण से सभी विषयों को त्याग देना उचित है, जिससे राग-द्वेष अनायास नष्ट होंगे। (३२१). हे पार्थ ! यह विशेष है कि राग-द्वेष नष्ट होनेपर इंद्रियों का विषयसेवन बंधक

नही होता। (३३२). उसी प्रकार जो विषयों के प्रति उदासीन, आत्मस्वरूप में निमग्न तथा कामक्रोध से अलिप्त है-(३३४), तथा हे अर्जुन ! जो विषयों में स्वरूपानुसंधान के सिवा और कुछ नही देखता, उसे विषय ही कहाँ के ? और वे किसे बंधक होंगे ? (३३५). क्या कभी पानी में पानी डुब जाता है ? क्या अग्नि अग्नि को जलाता है ? अगर यह संभव होगा तो वह आत्म-परिपूर्ण व्यक्ति विषयों के कारण भ्रष्ट होगा। (३३६). इस प्रकार जो स्वयं चराचर होकर, सर्वरूप होकर व्याप्त रहता है, वही केवल अचलप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि) है। (३३७.)

चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होनेपर सभी दुःखों का नाश होता है। प्रसन्नचित्त व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही आत्मस्वरूप में स्थिर होती है। (२-६५.)

जहाँ मनकी परिपूर्ण शान्ति है, वहाँ सभी भवदुःखों का प्रवेश नही होता। (३३८). जिसके अन्तर में अमृत का निर्झर झर रहा है, उसे जिस प्रकार क्षुधा तथा तृष्णा कष्ट नहीं देती-(३३९), उसी प्रकार जिसका हृदय प्रसन्न हुआ है, उसे दुःख काहे का ? वह होगा भी कहाँ से ? उसकी बुद्धि सहज ही ईश्वर स्वरूप में मग्न है। (३४०). जिस प्रकार ओट के (सहारायुक्त) दीप की ज्योति निष्कंप रहती है, उसी प्रकार स्थिरबुद्धि युक्त व्यक्ति आत्मस्वरूप में निश्चलता से मग्न रहता है। (३४१).

जिसका अन्तःकरण स्थिर नही, उसे आत्मज्ञान विषयक बुद्धि भी नही होती, जिसे बुद्धि नही उसे ध्यान नही, ध्यान

के सिवा शान्ति नही, शान्तिरहित व्यक्ति को सुख कहाँसे ? (२-६६).

यह योगयुक्त विचार जिसके अन्त:करण में नही, उसे शब्दादि विषय अपने पाहा में फँसाते है। (३४२). अत: असंयमित मन ही दु:ख का मूल कारण है, इन्द्रियनिग्रह यही उसपर उत्तम (उपाय) है। (३४७). जो आदमी इन्द्रियों की इच्छानुसार बर्ताव करते है, वे विषयसागर सचमुच पार नही कर सकते। वे कदाचित "विषयसागर पार किया है" यह मानते भी क्यों न हो। (३४८). अत: सिद्ध पुरुष भी कौतुहलवश (कौतुकवश) इन्द्रियों का लाडप्यार करेगा तो वह भवदु:ख से व्याप्त होगा। (३५०). इसलिये हे धनंजय! इन्द्रियों की स्वाधीनता प्राप्त होनेपर और शेष सार्थकता क्या रही? (३५१).

स्थितप्रज्ञ—इन्द्रियों के अर्थ जो विषय, उन्हे जो सर्व प्रकार से निरुद्ध करता है उसकी बुद्धि स्थिर हुई है। (२-६८). स्वरूप के बारे में जो अज्ञान वही रात है। रात के समय योगी जागृत रहता है तथा स्वरूपानुसंधानरूप जागृति अनुभव करता है। जहाँ स्वरूप के अज्ञानरूप रातके समय सब प्राणीमात्र उसे सत्य मानकर जागृत रहते है, वहाँ उस संसार के संबंध में योगी रात समझता है। (२-६९).

सब प्राणियों को जो अज्ञान है, उस आत्मस्वरूप का पूर्ण ज्ञान जिसे प्राप्त है, जहाँ विषयों की परिधि में प्राणीमात्र जागृत है और जो विषय सुख के प्रति निद्रित है—अनासक्त है— (३५५), वही, हे अर्जुन! उपाधिरहित, स्थिरबुद्धि तथा गंभीर

सत्पुरुष है। ३५६).

जो व्यक्ति सभी कामवासनाओं को त्यागकर, निस्पृह होकर अहंता तथा ममता छोड देता है, उसी को सच्ची शांति तथा सुख प्राप्त होता है। (२-७१).

इस प्रकार आत्मबोध के कारण जो सन्तुष्ट है, परमानंद में निमग्न रहा है वही सच्चा स्थिरबुद्धि है। (३६६). वह अहन्ता विरहित होकर, विषयों को त्याग कर, जगद्रूप होता हुआ जगत् में ही संचार करता है। (३६७ .

हे अर्जुन ! इसी अवस्था को ब्राह्मी स्थिति कहते है। (कर्म विरहित होकर ब्रह्मरूप रहना)। इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति कभी मोह में नही फँसता। इस स्थिति में अगर मृत्यु हुई तो वह पश्चात् शांतिरूप ब्रह्म को पाता है। (२-७२).

इस प्रकार की नि:सीम ब्राह्मीस्थिति जो निष्काम व्यक्ति अनुभत करता है, वह अनायास ही ब्रह्मभाव को अपनाता है। (३६८). ज्ञानस्वरूप की उपलब्धि में ब्रह्मस्थिति के कारण मुत्यु की विकलता तथा भ्रांति उसपर कुछ परिणाम नही कर सकती। (३६९), संजय धृतराष्ट्र से कहते है "हे राजन् ! यही स्थिति भगवान् श्री कृष्णजी द्वारा अर्जुन से कही गयी।" (३७०.) भगवान् श्रीकृष्ण का कथन सुनकर अर्जुनजी ने मनही मन कहा, "हाँ, यह युक्ति बहुत ही भली (पथ्यकर) है। (३७१). यदि भगवान् सभी कर्मों का निषेध करते, तो युद्धकर्म सहजही अकर्तव्य रहता"। (३७२). श्रीकृष्ण का वक्तव्य सुनकर अर्जुन हर्षविभोर हो उठा। आगे चलकर वह कुछ सन्देह करके

प्रश्न करेगा। (३७३). यह संवाद अत्यन्त सरस है। वह सभी धर्मोंका उत्पत्ति स्थान अथवा असीम विचारामृतसागर ही है। (३७४).

श्री भगवान आगे चलकर १० वें अध्याय में कहते हैं कि-यह विस्तार और उसे उत्पन्न करने का चातुर्य जो वास्तविक रूप से जानते हैं वे पूर्ण ज्ञानी होते हैं इसमें संशय नहीं ।।७।। जो विभूति योग को यथार्थ रूप से जानता है वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। (१०५-१०९). यहां तक हे सुभद्रा पति मेरे इन बीस भावों और ग्यारह विभूतियों से समस्त जग व्याप्त है। (१०५). अतः इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर अत्यल्प कीटक तक मेरे अतिरिक्त कुछ भी नही है। (१०६). जो वास्तव में यह जानता है उस में ज्ञान की जागृति होती है। अतः उसे प्राणियों में उत्तम, मध्यम का भेद स्वप्न में भी नहीं होता। (१०७). मैं, मेरी विभूति, मेरी विभूति से युक्त प्राणी और योगानुभव इन सब को एक ही जान। १०८). अतः जो वास्तव में इस ज्ञान योग द्वारा मनोभाव सहित मद्रूप हो जाता है वह कृतार्थ होगा इसमें सन्देह नहीं। (१०९). कारण हे अर्जुन ! अभेद दृष्टि से जो मुझे जानता है, मैं भी अभेद बोध द्वारा उसका भक्त बनता हूं। (११०). उसे वास्तव में मेरी प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। ऐसी भक्ति करते हुये यदि उसका मरण हो जाय तो भी उत्तम है। यह मैंने छठे अध्याय में पूर्ण रूप से कह दिया है। (१११). अब अभेद भक्ति योग के लक्षण सुन। अभेद भक्ति कैसी होती है ? यह जानने की यदि तेरी

हार्दिक इच्छा है तो कहता हूं। (११२). मैं सब का स्रष्टा हूं और मुझ से ही सर्व प्रवृत्त होते हैं, ऐसा समझ कर ज्ञानी जन श्रद्धा युक्त होकर मेरा भजन करते हैं।। ८ ।। हे अर्जुन ! सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाला व पालन करने वाला भी मैं ही हूं। (११३). हे प्यारे, जिस प्रकार तरंगों का जन्म पानी से ही होता है, पानी का ही उन्हें आश्रय रहता है, पानी ही उनका जीवन है। (११४). जिस प्रकार उन तरंगों में सर्वत्र जल ही जल है, ठीक उसी प्रकार विश्व में मेरे अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। (११५). इस प्रकार मैं सर्वव्यापक हूं ऐसे मान कर सच्ची उत्कंठा व प्रेम भाव से जहां चाहे वहां मेरा भजन करें। (११६). वे देश काल व वर्तमान से मुझे भिन्न नहीं जानते। वायु आकाश मय होकर आकाश में ही सन्चार करता है। (११७). उसी प्रकार जो आत्म ज्ञानी हैं वे मुझे सर्व व्यापक जान कर मन में स्मरण करते हुये सुख से त्रिभुवन में रममाण होते हैं। (११८). और जो प्राणी मात्र दिखाई दे उसे ईश्वर समझता हो वही भक्त है और यही मेरा सच्चा "भक्ति योग" है ऐसा जान। (११९ .

ज्ञानी पुरुष मुझ में चित्त लगा कर व मुझ में मन लगा कर एक दूसरे को मेरे प्रति बोध करा के मेरा कीर्तन करते हुये सर्व काल सन्तोष मान कर मुझ में रममाण होते हैं ।। ९ ।।

महात्मा पुरुष जगत में कैसे बर्ताव करते हैं ?

जो अपना चित्त मद्रूप करते हैं और मेरे ही द्वारा जिन के प्राणों को सन्तोष होता है वे ज्ञान की उन्मत्तता में जन्म मरण को

भूल जाते हैं। (१२०). इसके पश्चात् वे ज्ञान की विव्हलता और आत्म बोध की मस्ती में कौतुक पूर्ण संवादसुख में नाचने लगते और एक दूसरे को आत्म बोध का ही देना लेना प्रारंभ करते हैं। अर्थात ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं। (१२१). जिस प्रकार निकटस्थ सरोवर पानी से भर जाने पर परस्पर मिल जाते हैं फिर तरंगे ही तरंगों का आश्रय बन जाती हैं। (१२२). इसी प्रकार ज्ञानी परस्पर मिलने पर ज्ञान रूपी तरंगों को एक दूसरे में मिला देते हैं। उस जगह आत्म बोध ही आत्म बोध को आत्म बोध का आभूषण डाल कर सुसज्जित करता है (१२३). जिस प्रकार एक सूर्य ही सूर्य की आरती करे या एक चन्द्रमा ही चन्द्रमा का प्रेमालिंगन करे। अथवा समान योग्यतावाले दो जल प्रवाह आपस में मिल जायें (१२४). ठीक उसी प्रकार ब्रह्मैक्य के संगम में अष्ट सात्विक भावों की बाढ आ जाती है। अर्थात वे ज्ञाता लोग संवाद रूपी चौराहे पर गणपति बन कर शोभा पाते हैं। (१२५). इसके उपरान्त उसे ब्रह्मानन्द के सुख से परिपूर्ण देह रूपी गांव की सीमा पार कर मेरी प्राप्ति द्वारा सन्तुष्ट उच्च स्वर से गर्जना करने लगते हैं। (१२६). गुरु को एकांत में जो एकाक्षरी मन्त्र शिष्य को सुनाना चाहिए उसे वे लोग मेघके समान गर्जना करते हुए तीनो लोकों को सुनाते हैं। (१२७). जिस प्रकार कमल की कली विकसित होने पर अपने में स्थित मकरन्द छिपा नहीं सकती और राजा से लेकर रंक तक का अपनी सुवास से आतिथ्य करती है। (१२८). इसी प्रकार संसार में

मेरे गुण गाते हुए, गुण गान के आवेश में वे स्तब्ध रहते हैं और उस स्थिति में उनका जीव भाव व देह भाव समाप्त हो जाता है। (१२९). ऐसे प्रेमावेश में उन्हें रात और दिन का भी पता नहीं रहता। इस प्रकार वे आत्म तत्व द्वारा सुख पूर्ण रूप से मेरी प्राप्ति करते हैं। (१३०). इस प्रकार सतत मुझ में तत्पर रहने वाले व प्रीतिपूर्वक मुझे भजने वाले जो ज्ञानी हैं उन्हें जिस के द्वारा मैं प्राप्त होता हू वह बुद्धि योग देता हूं ॥ १० ॥ सतत भक्ति करने वाले को भक्ति योग प्राप्ति इस तरह होती है कि हे अर्जुन ! उन्हें मैं जो कुछ देना चाहता हू उसका सर्वोत्तम अंश वे पहले से ही अपने अधिकार में कर लेते हैं। (१३१). क्यों कि जिस मार्ग से वे मेरे समीप आने के वास्ते निकले हैं उस मार्ग की दृष्टि से स्वर्ग व मोक्ष इत्यादि आडे टेढे मार्ग जान पडते हैं। (१३२). अतः उन्होने मेरी जो भक्ति की उसके कारण उन्हें मैं कुछ दू ऐसी मेरी इच्छा होती है परन्तु जो कुछ मैं देना चाहता हूं वह वे स्वयं ही पहले से अपने आधीन कर चुके। (१३३). अब मेरी भक्ति का जो प्रेम सुख है वह निरन्तर बढता रहे और ऐसे मेरे भक्तों पर काल की दृष्टि न पडे इस बात की सावधानी रखना बस इतना ही मेरा कर्तव्य है। (१३४). हे प्यारे ! जिस प्रकार खेलते हुए लाडले बच्चे पर प्रेम दृष्टि रख कर मां उस के पीछे पीछे दौडती रहती है। (१३५). और वह जो जो नये नये खेल खेलता है उसके अनुसार उसे कीमती खिलौने तैयार रखती है इसी प्रकार मेरे भक्तों की उपासना का संप्रदाय मुझे बढाना पडता

है। (१३६). सम्प्रदाय बढाने से मेरे भक्त सहज ही आकर मुझ से मिलते हैं। उसकी विशेष वृध्दि करूं ऐसी मेरी इच्छा होती है। (१३७). भक्तों को मेरा प्रेम रहता है इस कारण उनकी एकनिष्ठता के प्रति मुझे एकनिष्ठ प्रेम रहता है कारण मेरे घर में प्रेमी भक्तों की बहुत कमी है। (१३८). यदा कदा भक्ति करनेवालों के लिए स्वर्ग व मोक्ष ऐसे दो मार्ग उत्पन्न किये हैं और लक्ष्मी के सहित अपना शरीर मैंने शेष जी के स्वाधीन कर रक्खा है (१३९). परन्तु देह से भिन्न नित्य नवीन रहनेवाला आत्म-सुख मैं केवल अपने प्रेमी भक्तों के लिये सुरक्षित रखता हूं। (१४०). हे अर्जुन ! इतना मैं अपने प्रेमी भक्तों को अपने निकट रखता हूं, परन्तु यह बात शब्दों द्वारा व्यक्त करने योग्य नहीं है। यह केवल अनुभव द्वारा समझने योग्य है। (१४१). उन पर अनुग्रह करने के हेतु ही मैं उनकी बुद्धी में वास करके सुप्रकाशित ज्ञान दीप द्वारा अज्ञानजन्य अंधकार का नाश करता हूं। अतः मैं जो आत्मा हूं वह मेरी भक्ति ही जिन्होने अपने जीवन का कारण बना रक्खा है और अन्य सभी वस्तुओं को व्यर्थ मान रक्खा है। (१४२). उन शुद्ध आत्म ज्ञानियों के लिये मैं कर्पूर का ज्योति दण्ड प्रज्वलित करके मार्गदर्शक बन कर उनके आगे आगे चलता हूं। (१४३). अज्ञान रूपी रात्री में घोर अंधकार का नाश करके उन भक्तों के निमित्त मैं सर्वदा ज्ञान रूपी सूर्योदय करता हूं। (१४४).

अध्याय १८ में

हे अर्जुन ! ज्ञान, कर्म, व कर्ता यह गुण भेद से तीन प्रकार के

होना सांख्य शास्त्र में यथार्थ रूप से वर्णन किया गया है वह भी तू श्रवण कर ॥ १९ ॥

मैं जितना और जैसा हूं वह मुझे भक्ति के द्वारा यथार्थ रूप से जानता है और मुझे यथार्थ रूप से जान लेने पर वह मद्रूप हो जाता है ॥ ५५ ॥

अधिक क्या कहूँ, हे प्यारे अर्जुन ! मैं जो आत्मा हूं उसकी प्रसन्नता जिसको प्राप्त हो चुकी है उसे न प्राप्त होने वाला ऐसा कौन सा लाभ है ? (१२६०).

अत: तू मन से सब कर्मों को मुझे अर्पण कर के मुझ में तत्पर होकर मुझ में बुद्धि स्थिर करके मन्निष्ठ हो जा ॥५७॥

यहां तक कि हे धनंजय तू अपने सभी कर्मों को मुझे समर्पण अर्थात संन्यास कर। (१२६१). परन्तु हे वीर अर्जुन ! वह कर्मों का संन्यास ऊपरी तौर पर नहीं, किन्तु विचार में चित्त वृत्ति स्थापित करके मन से कर। (१२६२). फिर हे प्यारे उस विचार शक्ति से अपने कर्मों से पृथक ऐसा निर्मल स्वरूप तू मेरे स्वरूप में देखेगा। (१२६३), और सर्व कर्मों की जननी अज्ञान (माया) अपने से बहुत दूर तुझे दिखाई पडेगा। (१२६४). फिर हे अर्जुन जैसे रूप के बिना छाया नहीं दीख पडती तैसे ही अज्ञान का आत्म रूप से निराला होना दृष्टि पथ में नहीं आता। इसी प्रकार तुझे यह दृष्टिगोचर होगा कि अज्ञान आत्म स्वरूप से पृथक नहीं। (१२६५). ऐसे ज्ञान से अज्ञान का नाश

ही हो जाय तो समूल कर्मों का संन्यास अनायास ही हो जायगा। (१२६६). फिर आतमा पर जो भ्रम के कारण कर्मों का भास होता है, वह विचार द्वारा दूर होता है। अर्थात शुद्ध आतमा मैं बुद्धि को पतिव्रता के समान (अनन्य) स्थापन कर। (१२६७). ऐसा अनन्य योग करके जिस समय बुद्धि मुझ में प्रविष्ट होगी उस समय चित्त चिंतनीय पदार्थों का त्याग कर के मेरा ही भजन करता रहेगा। (१२६८). इस प्रकार चिंतनीय विषयों को छोडकर चित्त सतत सर्वकाल मुझ में ही रखने का शीघ्र प्रयत्न कर। (१२६९).

" वाक्य " स्पष्टीकरण

(देव कर्ता, जगत् कर्म तथा मानव क्रिया–यही महावाक्य है)

आध्यात्मिक ग्रन्थ श्री ज्ञानेश्वरी का आकलन करने का चातुर्य इन्द्रियातीत होकर श्रवण द्वारा होनेसे इस लोकोत्तर ग्रन्थ के सम्बन्ध में जितना अधिक विचार करें, उतनाही नये विचारों की वलयें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इस तीसरे अध्याय में तो प्रारम्भ से ही 'देव ! आपने जो वाक्य कहा है' ऐसा उल्लेख आया है। 'देव'। शब्द ब्रम्हांड की व्यापक शक्ति, सर्व प्रकाश ! सर्व समाधान ! चारों तरफ समता फैलानेवाला केवल बोधमय ! अखिल जगत् की विस्मृति और सर्वव्यापक होने से 'पिंड में जो है, वही ब्रम्हांड में है' ये केवल शब्द न रहकर प्रत्यक्ष स्वदेह में परमेश्वर का दर्शन देनेवाला ही हो जाता है। केवल एक शब्द की इतनी भारी क्षमता है तो फिर उस पूरे 'वाक्य' के विषय में क्या कहें ? शब्द क्या अनुभव को खडा करेगा ? नहीं ! क्या अनुभव शब्द से व्यक्त होनेवाला

है ? नहीं ! साहित्य दर्पण में व्याकरण दृष्टचा वाक्य के महत्व का बहुत कुछ वर्णन किया गया है : कर्ता, कर्म, क्रिया, इन तीन पदों के बिना वाक्य बनना सम्भव नहीं, इसलिये अव्यक्त, निराकार, सर्वदेशीय, परमेश्वर को कर्ता मान लिया जाय तो इस जगत् की उत्पत्ति जब उस 'देव' ने ही की है तब इस महावाक्य का अखिल जगत् 'कर्म' हो जाता है, 'पिण्ड ब्रम्हांड' न्याय से मनुष्य की देह 'क्रिया' हो जाती है। और मनुष्य अगर इस महावाक्य की क्रिया हो और ऐसा अनुभव भी अगर मनुष्य को आ जाय तो देव कर्ता, जग कर्म, और मानव क्रिया, यह महावाक्य सत्य ही सार्थक हो जायगा। और भूतल पर मानव के रूप में जो कोई आचरण करता है, वह एकदेशीय ब्रम्हचैतन्य जग की दृष्टी से समाधान-कारक और आश्रयस्थान निश्चित हो जायेगा। इसमे कोई भी सन्देह नही है। 'द्योतनात् देव:' इसका महादर्शन इस जग में प्रकाश गुण से या गुण प्रकाश से चमकता रहेगा।

——:०:——

नीति विचार -

(परीक्षण)

१) आप मुझे भ्रम में डाल रहे हैं। आप तो विरोधी योजना बना रहे हैं।

२) ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग एक ही लक्ष्य को पहुंचाते है (दोनों की एकता मनुष्य की पात्रता के अनुरूप प्रतीत होती है।)

३) साधक को उचित कर्म का आश्रय छोडना नहीं चाहिए।

४) स्वधर्म का लोप हो तो जीवन-सुख भी लुप्त होता है।

५) स्वधर्म के लोप से (स्वधर्म टूटने से) सुख का अभाव अपरिहार्य होता है। (पानी से छूट कर जैसे मछली तडपती है।)

६) केवल इन्द्रियों का ही पोषण करने वाले मनुष्य का जीवन व्यर्थ है।

७) ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति अज्ञानियों को साथ लेकर उनका मार्गदर्शन करे।

८) कर्मयोग का उपदेश मूढ आदमी स्वीकार नही करता (मानता नहीं) इसलिये उसका आदर करता नहीं (कर्मयोग कें अवलम्ब में रुचि न हुई तो कर्मयोग कोई चीज है, ऐसा वह मानता ही नहीं ।)

९ मूर्ख के लिये विषय सेवन तो आत्मघात जैसा होता है ।

१०) भोग लिप्सा, कुतूहल या किसी भी अन्य निमित्त से इन्द्रियों को सर चढाना घातक ही होगा–इसे अच्छीं तरह समझो ।

११) विषय–वासना, सुख के आमिष से मनुष्य रूपी मछली को उन्मत्त करती है और अन्त में तो वह घातक ही होती है ।

१२) यद्यपि स्वधर्थ कठिन होता है तथापि दूसरों का आचार बाह्यरूपसे अच्छा भी दिखाई दे तो भी उसका स्वीकार करना अनुचित है ।

१३) दूसरों को हितकर और अपने को अहितकर लगने वाले कर्म कभी आचरण में लाना नहीं चाहिए ।

१४) ज्ञानियों को भी, ग्राह्य या अग्राह्य विषयों में निश्चय नहीं होता ।

१५) ऐसा ज्ञान हमारे देखने में नहीं, जिसमें काम या क्रोध का लेश नहीं होता ।

१६) ज्ञान तो वास्तव में शुद्ध ही है परन्तु काम क्रोध के आवरण से मलिन हो जाता है ।

मेरी इस मराठी प्रस्तावना का हिन्दी अनुवाद फलटण-निवासी विद्वान पण्डित माननीय श्री रामसेवकदास जी ने किया है । इसके लिए मैं मनःपूर्वक अनुवादकर्ता का आभारी हूँ ।

आपका नम्र सेवक

डॉ. गोविन्द रामचन्द्र उपळाईकर,

फलटण, (जि. सातारा,)
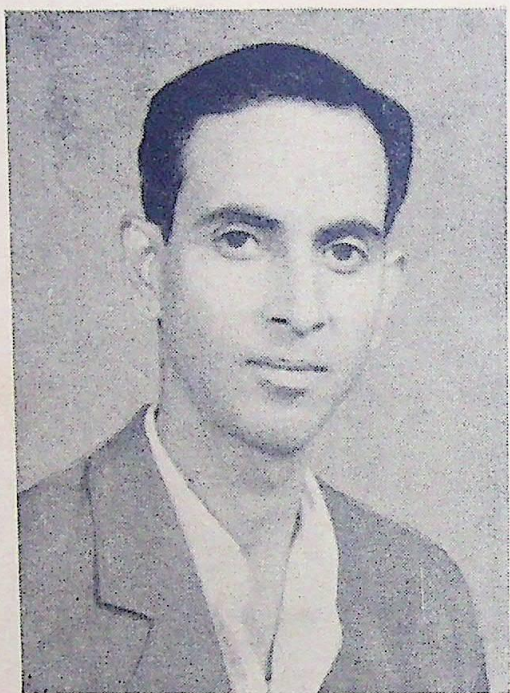
श्री म. दा. बरसावडे. एम्. ए.–फलटण

" महत्कृपयैव "

संतशिरोमणि श्री ज्ञानेश्वरजी द्वारा लिखित ज्ञानेश्वरी–श्री भावार्थ दीपिका–प्रसाद तथा प्रसन्नता की दृष्टिसे सचमुच अमूल्य ग्रंथरत्न है। ज्ञानेश्वरी के वाग्विलास में तथा भावसौंदर्य में एक प्रतिभासंपन्न तथा क्रांतदर्शी कवि का व्यक्तित्व ओतप्रोत है। वह अनन्य साधारण तथा लोकोत्तर रचयिता महाराष्ट्र के जनमानस पर आज ६०० साल से अधिराज्य कर रहा है। उन्होंने अध्यात्म की प्रतिसृष्टि की। सारे संसार अपार्थिव आनंद से भर दिया। श्री ज्ञानेदेवजी अपनी रचना में लालित्य के साथ उपमा उत्प्रेक्षाओं की झडी लगाते रहे। मधुरातिमधुर शब्दचयन, समर्पक उपमा-उत्प्रेक्षादि अलंकारों का विनियोग, विवरण में प्रासादिकता निगूढ भावसौंदर्य, क्रांतदर्शी तत्त्वज्ञान तथा परतत्त्वस्पर्शी रसिकता के कारण श्री ज्ञानेश्वरी की प्रत्येक 'ओवी' अमृत की लहर बन गयी है। वह विशाल अमृत सागर है। उसमें भावों की गम्भीरता है तथा कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के अमूल्य रत्न भी हैं। जों उसमें डूबते हैं वे तर जाते हैं और उन अमूल्य रत्नों को भी पाते हैं। किन्तु जो

'बौरा' डूबने से डरता है उसे भी इस ग्रन्थ के द्वारा अलौकिक लालित्य तथा अपूर्व भावसौंदर्य का आह्लाद प्राप्त होता है। शुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे भी इस अद्वितीय ग्रन्थ की योग्यता किसी भी प्रकार कम नहीं। मराठी भाषा की क्षमता, प्रगल्भता तथा प्रौढता सिद्ध करने के लिये यह एकही ग्रन्थ पर्याप्त है।

इस अनुवाद कार्य की पार्श्वभूमि कुछ इस प्रकार है। लगभग २० साल पहले पू० काकासाहब हमारे घरके पासही रहा करते थे। आपके सुपुत्र श्री सुधाकर से मेरा घनिष्ठ स्नेह था। बचपन में मैं हमेशा उनके घर खेलने के लिये जाया करता था। मेरे स्व० पिताजी भी उनके प्रति आदर तथा श्रद्धा रखते थे। उनकी महत्ता का ज्ञान हमें उस बाल्यावस्था में असम्भव था। फिर भी वे हम बच्चोंसे लाडप्यार जरूर किया करते थे। जैसे जैसे मैं उनके सहवास में आता गया वैसे मुझे उनके विद्या-व्यसन तथा लेखन कार्य का भी कुछ परिचय होता गया। फलटण के सभी निवासी उनकी प्रगाढ बुद्धिमत्ता तथा प्रत्यक्ष प्रतिभा से पूर्ण परिचित हैं। श्री ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी का विस्तृत तथा प्रत्ययकारी ग्रंथलेखन उनकी प्रभावकारी क्षमता का परिचायक है। जब कभी मैं ज्ञानेश्वरी का अध्ययन करने बैठता तब पू० काकासाहब के विशाल कार्य का स्मरण अवश्य हो जाता। उनके ग्रंथों को उलटपलट कर देखता भी था किन्तु उसका अल्प अंश ही मेरी समक्ष में आता था और रहस्यमय

व दुरूह भागही अधिक रहता था। उनके मौलिक व्यक्तित्व के कारण उनकी अपनी एक अलग शैली ही बन गयी है। जनसाधारण के लिये वह कुछ हदतक दुरूह जरूर है किन्तु उसमें ऐसी मार्मिकता है, भावों की पहचान है तथा अनुभूति की प्रत्ययकारिता है कि उसका एकाध वाक्य भी पाठक पर गहरा असर कर देता है। जीवन की गति को तथा उसके अर्थ को स्पष्ट करने की क्षमता रखता है। मेरी यह निरन्तर इच्छा रही है कि श्री ज्ञानेश्वरी की सेवा मुझसे भी होती रहे। ज्ञानेश्वरी की रसात्मकता, प्रसादगुण, और कलापक्ष तथा भावपक्ष की सर्व-श्रेष्ठता मनको लुभाती थीं। प्रत्यक्ष कार्य कुछ भी नहीं हो सका। मन बार बार पूछता था कि यह कब और कैसे सम्भव होगा ? श्री ज्ञानेश्वरजी ने भी कहा है –

"आल्हादपण काय सांगसी देवा।
मन बैसे भावा ऐसे करी॥
हा घोडा हा राऊत करुनिया दावा।
मग पदीं बैसवा ब्रह्माचिये॥
मी डोलेन आनंदे तुमचेनि प्रसादे......"

"उस अनुभूति का, उस ज्ञान का, उसकी महत्ता का केवल वर्णन ही क्यों करते हो ? मेरा मन उसपर कहाँ स्थिर

है ? उस भावपर मनको आरूढ करके दिखाओ। यह मनरूपी घोडा चंचल है। उस पर जीव सवार नहीं होता। इस मनरूपी घोडेपर जीवरूपी सवार को बिठाओ। फिर मनको ब्रह्मपद की योग्यता दिलाओ। वह प्रसाद प्राप्त होनेपर मैं सचमुच आनन्द विभोर हो जाऊँगा।" न तो मैं तीव्र संवेगयुक्त साधक था न मुमुक्षु ही। हाँ, मेरी भावना कुछ लिखने को उत्सुक जरूर थी। ज्ञान तो नहीं था और आज भी नहीं है। किन्तु लिखने की इच्छा तीव्र थी। मेरा अपना क्या है ? जमीन पर गिरे हुए फूल की सुगन्ध कुछ हदतक मिट्टी भी अपनाती है। यह उन्हींकी कृपा है।

१९५७ की बात है। एक दिन फलटण के श्री बालाजी मन्दिर के महन्त पं. रामसेवकदासजी ने मुझे बुलाया। उन्होंने कहा, "पू० गोविन्द काका ने ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के तीसरे अध्याय के अनुवाद का कार्य मुझपर सौंपा है किन्तु मैं मराठी का साहित्यिक ज्ञान नहीं रखता हूँ। उनकी शैली तथा ज्ञानेश्वरी जैसे प्राचीन मराठी ग्रन्थ का अनुवाद करना मुझ जैसे हिन्दी भाषी के लिए कुछ कठीन सा है। तुमने दोनों भाषाओं का अध्ययन किया है। अतः प्रयत्न करके देखो।" वस्तुतः हिन्दी का परम्परागत ज्ञान, बी. ए. की उपाधि तथा अध्यात्म के प्रति आंतरिक लगन होने के कारण यह कार्य आपसे भी अवश्य हो सकता था किन्तु आपने एक

प्रकार का अनुग्रह करके यह अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे प्रदान किया। मैंने पंडितजी के आशीर्वाद लिये। पू० गोविन्द काकासे आज्ञा माँगी। उन्होंने भी बडी प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दी और आशिष दिया। उन्हींकी प्रेरणा तथा कृपासे जो कुछ लिख सका वह सेवामें प्रस्तुत है।

श्री ज्ञानेश्वरी का अध्ययन १९५२ से ही जारी था। तीसरे अध्याय के अनुवाद का कार्य लगभग दो साल चलता रहा। फलटण में पू० गोविन्दकाका का मार्गदर्शन रहा। सद्गुरु श्री ब्रह्मचैतन्य महाराज के श्रीक्षेत्र गोंदवाले में अनुवाद कार्य पूरा हुआ। पू० गोविन्दकाका ने अनुवाद के संबंध में प्रसन्नता प्रकट की और इससे मुझे भी परम सन्तोष प्राप्त हुआ। अनुवाद करते समय मैंने यह निश्चित किया था कि केवल शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद किया जाय। उनके विचार, भाव तथा तत्त्वज्ञान का सुस्पष्ट चित्र हिन्दी भाषिकों के सामने अंकित किया जाय ; साथही श्री ज्ञानेश्वरी के मूल वक्तव्य का भी स्पष्टीकरण हो। उन दोनों के विचारों का सुस्पष्ट आलेख तथा यथासंभव विवरण मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिये कठिन कार्य था। पू० उपलाईकर की भाषाशैली अतीव 'आत्मनिष्ठ' (Subjective) है। मैंने यहाँ आत्मनिष्ठ शब्द केवल मनोभाव तथा अपनी ऐहिक अनुभूति के लिये नहीं प्रयुक्त किया

है। उसके द्वारा आत्मतत्त्व की ओर संकेत है। आत्मरूप तथा स्वसंवेद्य परतत्त्व "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह..." होनेके कारण उसका शाब्दिक स्पष्टीकरण रहस्यमय होता है। शायद कहीं रहस्यवाद का असर भी दिख पडेगा। उस स्वसंवेद्य तथा आत्मरूप अनुभूति का साक्षात्कार शब्दबद्ध करते समय उन्होंने प्रतीकात्मकता का सहारा लिया है। उनके संकेत अतीव गम्भीर व अनुभूति के परिचायक होते हैं। उन्हें पढते समय मैं तो कई बार दिङ्मूढ होता रहा। जहाँ तक हो सका मैंने उनके विचारों को अनूदित किया है किन्तु कहीं भाव हानि नहीं होने दी। उनकी व्याख्या को विस्तार के साथ अनूदित करते समय साहित्यिक सुबोधता की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। इस द्वितीय संस्करण में मूल 'ओवी' का भी सरलार्थ प्रस्तुत किया है। आशा है कि पाठकगण श्री ज्ञानेश्वरी तथा पू० गोविन्दकाका के विचारों का परिचय पा सकेंगे। यह उपक्रम रसज्ञ, साधक तथा संतसज्जनों के लिए अल्पमात्रामें भी उपकारक हुआ तो मेरे प्रयत्न सफल होंगे।

लेखनकालावधि में बंधुतुल्य स्नेही सर्वश्री डॉ० रामनारायणजी करवा, रामदासजी दाणी, प्रा० वसन्तराव जोशी, जनार्दनपंत लिमये, बापून्राव जाधव, भ. दा. देशपांडे, हिन्दी शिक्षक म. चिं. कान्हेरेजी, बालासाहब शिधये, प्रा० गोविन्दराव जोशी आदिने मुझे सदैव प्रोत्साहित किया है। उनके प्रति मैं

अतीव कृतज्ञ हूँ। गोंदवले में श्री. कृ. वि. देशपांडेजी ने लेखन कार्य के लिये काफी अवसर दिया था। साथही पू० तात्यासाहब केतकरजी के आशिष भी प्राप्त हुये। उन दोनों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ का संपूर्ण आलोडन करके यत्र तत्र आवश्यक परिष्कार करने का कार्य डॉ श्रीराम शर्मा M. A., Ph. D., D. Lit हैद्राबाद, द्वारा हुआ। आपकी सहृदयता के लिये मैं कृतज्ञ हूँ। पं. रामसेवकदासजी ने समय समय पर आवश्यक सूचनाएँ दीं। आपका मैं ऋणी हूँ।

हिन्दी के विशाल क्षेत्र में अनुवादक के नाते मेरा प्रवेश कराने का कार्य इस ग्रन्थ के प्रकाशक श्रीमान् राजा त्र्यंबकराज ने किया है। अपनी गुणग्राहकता, श्री ज्ञानेश्वरी के प्रति श्रद्धा तथा पू० काकासाहब के प्रति अनुपम आदर के कारण ही यह ग्रन्थ आपने प्रकाशित किया है। अध्यात्मविषयक ग्रन्थों के प्रति रुचि आजकल के समाज में नहीं के बराबर है किन्तु पू० काकासाहब के ग्रन्थ की महत्ता जानकार राजासाहब ने अपने औदार्य से हिन्दी भाषिकों की सेवामें यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया। आप प्रशंसा तथा अभिनंदन के पात्र हैं। मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जब आपसे परिचय होनेका सुअवसर प्राप्त हुआ तब आपके सौजन्य तथा सादगीसे मैं बहुतही प्रभावित हुआ। आपका परिचय तथा आशिष मेरे लिये अमूल्य निधि है।

अब और क्या कहूँ ? आज भी वही धुन है। वही व्याकुलता है और उसीकी ही प्यास है –

" मन बैसे भावा ऐसे करी । "

मन भावरूप बने। वह प्रत्यक्ष स्पर्श मेरे शरीर को पुलकित करे। उस असीम की अथाह अनुभूति से मेरा हृदय ओतप्रोत रहे। इसी प्रकार श्रीचरणों की सेवा वाग्यज्ञद्वारा मुझसे निरंतर हो। बस, इतना ही निवेदन है। पू० काकासाहब की कृपासे यह जो कुछ कार्य हुआ वह उन्ही के चरण कमलों में सादर समर्पित है !

" शिवकल्याण "
२७३, कसबा पेठ, फलटण
१-१-१९६८

म. दा. बरसावडे,
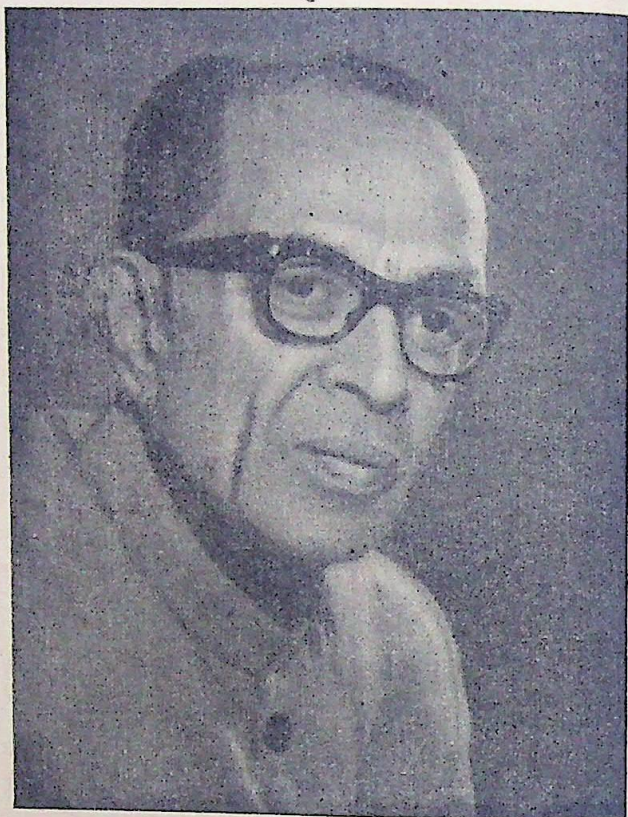
राजा रायरायान त्र्यंबकराज बहादुर–हैदराबाद.

जन्म :
फाल्गुन शु।। ११ शके १८२१.
दि. ११ मार्च १९००.

मृत्यु :
कार्तिक शु।। ११ शके १८
दि. २० नवंबर १९६९.

प्रकाशक का निवेदन

सन्तश्रेष्ठ श्री ज्ञानेश्वर जी महाराज की दिव्य लेखनी से उतरे हुये 'भावार्थ दीपिका तथा श्री ज्ञानेश्वरी' जैसे अलौकिक ग्रंथकी उज्ज्वल कीर्ति गत साढे छः सौ वर्ष से अखिल महाराष्ट्र में फैली हुई है, तथा प्रतिदिन बढती जा रही है। भक्तिमार्ग के महासिद्धांत का अंगभूत, काव्य गुणों से रसिक ज्ञानियों का हृदयनिधान तथा कवियों की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा शक्ति के क्षेत्र से भी पार ऐसा ग्रन्थ मराठी भाषा का एक अभूतपूर्व अलंकार है। यह ग्रन्थ विद्वानों की प्रज्ञा को सदा से चुनौती देता आया है। इस से इस पर अब तक अनेक भाष्य, व्याख्या, टीका, टिप्पणियां इत्यादि ग्रन्थ लिखे गये हैं।

२ फलटण निवासी आत्मानुभवी सन्त प. पू. डॉ. गोविंद रामचन्द्र उपळाईकरजी ने सन १९३८ ई. से श्री ज्ञानेश्वरी का अध्ययन करके 'श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी' लिखना प्रारम्भ किया और इसे टीका-भाष्य के साथ सार्थ सम्पूर्ण किया। यही मूल ग्रन्थ है जिसका पुरस्कार श्री भगवान दामोदर देशपांडे जी शिक्षक मुधोजी हायस्कूल फलटण ने किया है। श्रीज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के अध्याय ३,४ व ५ को पूना के मे० जोशी और लोखंडे ने प्रकाशित किया है, जिसकी समालोचना अहमदनगर

के एक विद्वान वकील श्री हरी गणेश पारखे B. A , LL. B ने की है तथा अपने अनेक मित्रों को इसका अध्ययन करने की सिफारिश की है। स्वयं सन्तवाङ्मय के अच्छे खासे अध्येता रहने के नाते उन्होंने और भी सन्त प्रेमियों के लिये इन तीन अध्यायों पर प्रकाश डाला। तत्कालीन नगर हायस्कूल के विद्वान मुख्याध्यापक श्री नवाथे जी ने जब यह ग्रन्थ पढा, तो इससे वह बहुत प्रभावित हुये। आपने तुरन्त मुधोजी हायस्कूल फलटण के मुख्याध्यापक श्री गोविंद केशव देशमुख B. A.; B. T.; LL. B. को पत्र लिखकर प. पू. डॉ. उपळाईकर जी जैसे छात्र को तैयार करने पर हायस्कूल का अभिनन्दन किया। मूल अंग्रेजी में लिखे गये पत्र में आप लिखते हैं :—

Mr. H. G. Parkhe Pleader, of Ahmednagar gave me an opportunity to go through the pages of Shri ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अध्याय ३, ४, ५, written by Dr. G. R. Uplekar of Phaltan recently published in Poona. I was highly impressed to read this kind of literature written in a special independent style, based on his ANUBHAVA. I must Congratulate your Institution-Mudhoji High School Phaltan. to have produced such a great Scholar as Dr Govind Ramchandra Uplekar.

Sd/ SHRI NAWATHE
Head Master Nagar H. S.

"श्रीमान ह. गो पारखेजी वकील अहमदनगर की कृपासे मुझे श्री. डॉ गोविंद रामचन्द्र उपळेकरजी द्वारा लिखित मराठी ग्रन्थ श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के अध्याय ३, ४ व ५ पढने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। निजी अनुभव पर आधारित स्वतन्त्र शैली में लिखे गये इस प्रकार के मौलिक ग्रन्थ को पढकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। डॉ० गोविंद रामचंद्र उपळेकर जैसे विद्वान छात्रों को तैयार करने के लिये आपकी संस्था को हार्दिक धन्यवाद देना तथा अभिनन्दन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं।"

३. श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के अध्याय ३ का सरस एवं सरल हिन्दी अनुवाद श्री महादेव दाजीबा बरसावडेजी B. A. (Hons) भारतीय हिन्दी पारंगत ने किया है। नवाथे जी की गुण ग्राहकता से ही श्री बरसावडेजी को यह अनुवाद करने की प्रेरणा हुई। श्री बरसावडेजी हिन्दी के अच्छे विद्वान हैं तथा इन्होंने ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी के तीसरे अध्याय के आशय का जो उत्कृष्ट अनुवाद किया है उसके लिए आप अभिनन्दन के पात्र हैं।

४. इस ग्रन्थ का सरल एवं शुद्ध परिष्करण डॉ० श्रीराम शर्माजी एम. ए., पी. एचडी., डी. लिट. प्राध्यापक हिन्दी विभाग उस्मानिया विश्व विद्यालय द्वारा किया गया है, उनका मैं अत्यन्त ऋणी हूं।

५. इस कार्य में जिन महानुभावों ने सहायता की है

उनका ऋण निर्देश न करना कृतघ्नता होगी । हस्तलिखित पुस्तक की टंकमुद्रित पांडुलिपी श्री देविदास जी गायकवाड ने बडे ही सुन्दर ढंग से तथा कम समय में बनाकर उपकृत किया है । प्रकाशन कार्य में सबसे कठिन होता है मुद्रण शुद्धि का काम । वह हमारे मित्र श्री व्यंकट भाऊराव धनाश्री जी बी. ए. सेवानिवृत्त डेप्युटी अकौंटंट जनरल हैद्राबाद ने बडे परिश्रम-पूर्वक किया है । मुद्रण कार्य श्रीकृपा मुद्रणालय के श्री वीर यशवन्तरावजी जोशी ने बहुत ही सुन्दर किया है, इसके अतिरिक्त भी इस कार्य में अनेक सज्जनों का सहकार प्राप्त हुआ है, जिनमें श्री प्रा० रामाचार्य एम. ए. (संस्कृत), श्री कालीदास जी काशीकर हिन्दी वर्ग संचालक भारत गुणवर्धक संस्था, श्री अम्बादासराव जी सेवानिवृत्त खजानादार तथा श्री जी. व्ही. कुळकर्णी आदि का समावेश है–इन सब के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं ।

६. अन्त में मैं श्री रामसेवक दास जी महन्त, विशारद हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, हालमुकाम बालाजी मन्दिर फलटण का अत्यन्त आभारी हूं, जिन्होंने इस ग्रन्थ प्रकाशन में अनेक सूचनायें देकर हमें प्रोत्साहित किया है । इसको प्रकाशित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है ।

प्रकाशन : १७ सप्टेंबर १९६५ विनीत

स्थल : सोमाजी गुडा, **राजा त्र्यंबकराज**

हैद्राबाद (आंध्र प्रदेश) (रायरायान)

द्वितीय संस्करण के उपलक्ष्य में

महाराष्ट्र के ख्यातनामा संत पू० डॉ. गो. रा. उपळाईकर जी फलटण, द्वारा लिखित श्री ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी अद्वितीय टीकारत्न है। परमार्थ-पथपर अग्रसर होनेवाले साधकों तथा महानुभावों के लिये यह टीका उत्तम पथ प्रदर्शिका है। इसमें केवल शब्दार्थ या 'ओवी' का सरलार्थ नहीं। यहाँ की व्याख्या औरों से भिन्न है। प्रत्येक 'ओवी' के अंतरंग को हृदयंगम करते हुए उसमें छिपे हुए निगूढ भाव तथा अध्यात्म सौंदर्य का प्रस्फुटन करने में पू० उपळाईकरजी सिद्धहस्त हैं। हर एक 'ओवी' का सर्वंकष अवगाहन तथा अत्यन्त सुस्पष्ट प्रकाशन उनकी आत्मानुभूति का परिचायक है। उन्होंने अपनी अनुभूति से विस्तार के साथ जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह अतुलनीय है। अपने ढंगकी एकही है। वैसे श्री ज्ञानेश्वरी तो आबालसुबोध मानी जाती है किन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ के अंतरंग ज्ञान के अधिकारी, पहुँचे हुए व्यक्ति ही होते हैं। हम जैसे लोगों के लिये यह परम सौभाग्य की बात है कि पू० काकासाहब ने (उपळाईकरजी) पूरे १८ अध्यायों की अति बिस्तृत व्याख्या लिखकर मराठी में प्रसिद्ध की है। श्री० म. दा. बरसावडेजी

एम. ए. ने यहाँ तीसरे अध्याय को ही हिन्दी में अनुदित करके हिन्दी भाषिकों को पू० काकासाहब के विचारों से अवगत कराया है। आशा है कि आप आगे चलकर इसी प्रकार अन्यान्य अध्याय भी हिन्दी में अनुदित करेंगे।

तीसरे अध्याय का यह द्वितीय संस्करण संपूर्णतया संशोधित किया गया है। साथही छापे की भूलें भी हटायी गई हैं। मूल 'ओवी' का सरलार्थ हिन्दी भाषियों के लिए बहुतही उपयुक्त होगा। रस विमर्श, नाटयदीप आदि नये प्रकरण भी इसमें समाविष्ट किये गये हैं। इन प्रकरणों द्वारा पू० काकासाहव के अध्यात्मिक विचारों की तथा तत्त्वज्ञान की एक झाँकी पाठकों को उपलब्ध हो सकेगी। यत्र तत्र आवश्यक सुधार करके यह संस्करण अतीव उपयुक्त बनाने की चेष्टा की गयी है।

पू० डॉ. काकासाहब की प्रेरणा तथा प्रसाद से द्वितीय संस्करण पूर्ण हो सका। पू. काकासाहब ने इसका प्रत्येक वाक्य पढकर अतीव सुख का अनुभव किया। बडी प्रसन्नता से प्रस्तुत संस्करण छपवाने की अनुमति दी। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने में, इस अकिंचन का ध्येय मात्र संत सेवा करना है। सविनय प्रार्थना है कि मेरी यह लघु सेवा स्वीकृत हो।

इस द्वितीय संस्करण के समय श्री वाराणसी राममूर्ती रेणूजी एम. ए. की बहुत मदत मिली। जिन्होंने इस संस्करण के पहिले हमें बहुतसी सूचनाएँ दी। जिसका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

यह ग्रन्थ श्रीकृपा मुद्रणालय में छापा गया है। मुद्रणालय के संचालक श्री वीर यशवंतराव जोशी महोदय ने अपनी कार्य-व्यस्तता के बावजूद ग्रन्थ को इतने सुन्दर ढंग से और अल्प अवधि में मुद्रित कराया है, जिसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ। तथा उनके कर्मचारी भी धन्यवाद तथा अभिनन्दन के पात्र हैं। उनके प्रति हार्दिक शुभेच्छा।

सोमाजी गुडा,
हैदराबाद. (आंध्र प्रदेश).
विजयादशमी, शके १८९१.
२०-१०-१९६९,

विनीत
राजा त्र्यंबकराज
(रायरायान्)
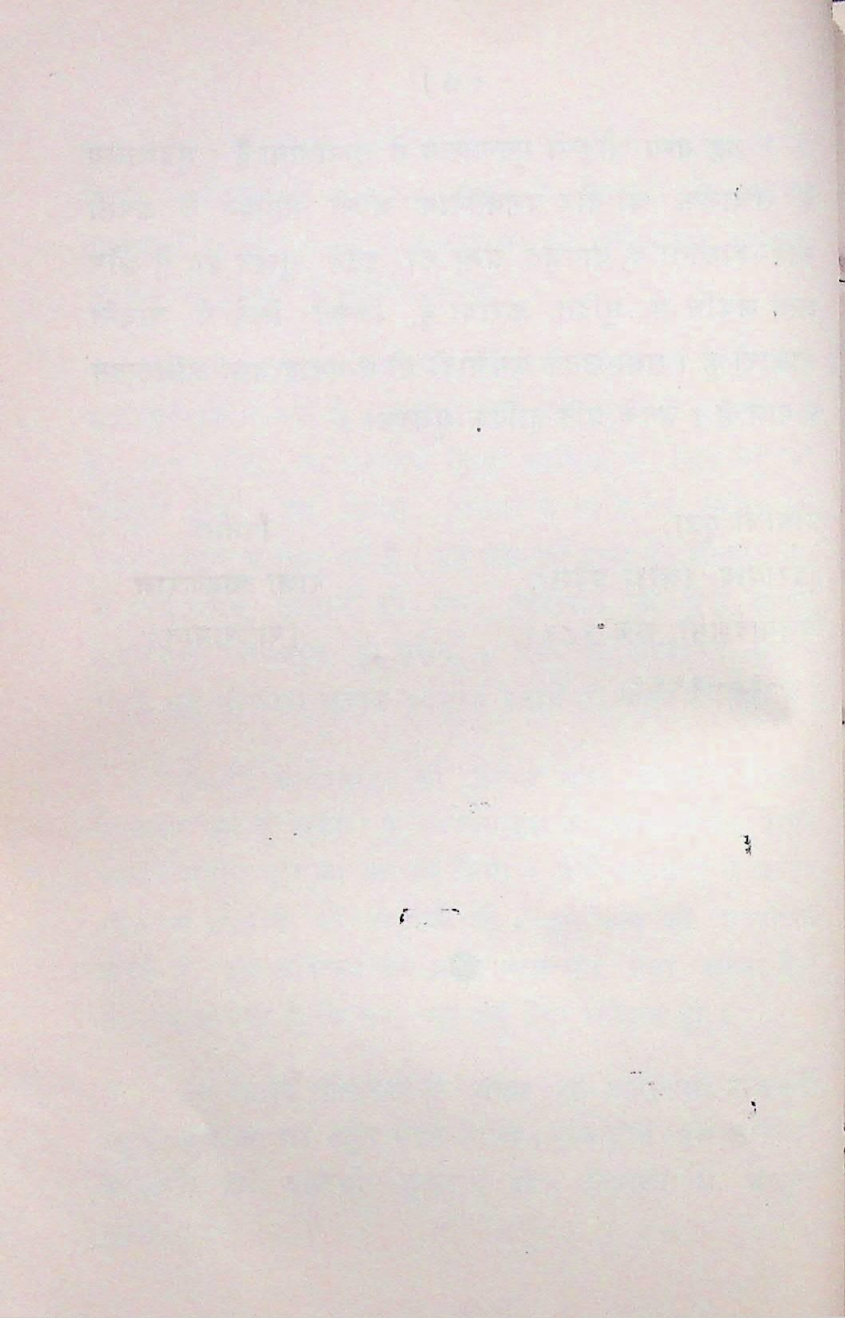
॥ श्री गणेशायनमः ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूर मर्दनम् ।
देवकीपरमानंद कृष्णं वंदे जगद्गुरुम् ॥

॥ हरिॐ । श्री गुरुभ्योनमः । श्रीगोपालकृष्णायनमः ॥

श्री ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी

अध्याय तीसरा

कर्मयोग

अर्जुन उवाच :-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा :- हे जनार्दन । यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि का अवलंब ही लाभदायक मानते हैं, तो फिर मुझे ऐसे भयानक कर्म के लिये क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ?

(अर्जुन उवाच-ज्यायसीति)

मग आईका अर्जुनें म्हणितलें । देवा तुम्हीं जें वाक्य बोलिलें ।
तें म्यां निकयापरी परिसलें । कृपानिधि ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा कि :– हे कृपा निधि ! हे देव ! आपने जो कुछ कहा है वह मैंने ध्यान से सुना ।

हे जनार्दन । आपने "देव वाक्य" अर्थात् त्रिकालाबाधित सत्य के समान निश्चित विचार स्पष्ट किया वह मैंने ध्यान से सुना किन्तु इस सत्य को मैं ठीक ठीक नहीं समझ सकता । मेरी बुद्धि अभी प्रगल्भ नहीं– जिस प्रकार माँ अपने नन्हे बालक को प्यार से खिलाती है, उसी प्रकार आपने यह विचार मुझे समझाया और एक अज्ञानी बालक के समान हे केशव मैंने भी उसे समझने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है । १.

जेथ कर्म आणि कर्ता । उरेचिना पाहतां ।
ऐसें मत तुझें श्रीअनंता । निश्चित जन्हि ।। २ ।।

तत्वत: देखने पर हे श्री अनंत ! यहां कर्ता तथा कर्म दोनों भी नहीं है । अगर यही आपके कथन का आशय हो तो –

हे भगवन् । यदि आपका आशय यह है कि वास्तव में यहां कर्म करनेवाला कोई नहीं है तथा कर्म भी नहीं है । दोनों भ्रम मूलक और व्यर्थ हैं, तो फिर आप मुझे ऐसे कर्म के लिये क्यों विवश कर रहे हैं ? २.

(तदिति)
तरी मातें केंवि श्रीहरी । म्हणसी पार्था संग्राम करी ।
इये लाजेसिना महाघोरीं । कर्मीं सुता ।। ३ ।।

आप मुझ से क्यों कह रहे हैं, कि हे पार्थ तू जरूर संग्राम कर । हे श्री हरि ऐसा कहने में आपको संकोच तक नहीं ।

पार्थजी कह रहे हैं "हे भगवन् श्री हरि" ! भूल

होने पर मानव लज्जित होता है। वह इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकता कि यह भूल कैसे हुई ? मैं जो कुछ करुंगा वह भी एक प्रकार की भूल होगी। इस भूल की ग्लानि भी अवश्य होगी। इस से मनमें संकोच होगा। भगवन्, आप कहते हैं कर्म तथा कर्ता नहीं है, फिर भी हे श्री कृष्ण आप मुझे संग्राम करने की आज्ञा दे रहे हैं। यह अनुचित है। आपको यह कहने में संकोच क्यों नहीं होता ? ३.

हां गा कर्म तूंचि अशेष। निराकारिले नि:शेष।
मग मजकरवीं हें हिंसक। कां करविसि ॥ ४ ॥

वस्तुत: आप ही कर्म की नि:सारता बताते हैं और फिर यह हिंसक कर्म करने के लिये मुझे बाध्य करते हैं।

कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, यह संकेत करके आप कहते हैं कि 'कर्म मत करो' और फिर तुरन्त ही कहते हैं कि 'कर्म करो'। आप की यह आज्ञा मुझ जैसे बालक के मन में एक प्रकार की दुविधा निर्माण करती है। पहले तो आपने ही कर्म की व्यर्थता सिद्ध की, और फिर कर्म करने को प्रवृत्त भी आपही कर रहे हैं, ये दोनों बातें नि:संदेह विरोधी हैं। जिस प्रकार वह अव्यक्त कल्पित रूपसे मिथ्या आकार धारण करके विकारवान प्रतीत होता है, उसी प्रकार आपका कहना 'सत्य' होने पर भी (क्यों कि वह देव वाक्य है) विरोधी लगने के कारण मेरे निर्विकार मन में विकार ही पैदा करेगा। इससे हे देव ! हे करुणाकर ! मैं विकार ग्रस्त होऊँगा। हिंसक बनूंगा। हे महात्मन्। आप मुझसे यह हिंसा क्यों कराते हैं ? ४.

तरी हे विचारीं श्रीहृषिकेशा । तूं मान देसी कर्मलेशा
आणि म्हेसणि हे हिंसा । करवित आहसी ।। ५ ।।

अतः हे हृषिकेश आप इसपर विचार कीजिये कि कर्म को किसी भी प्रकार से महत्व नहीं देते हुए भी आप मुझे ऐसा घोर हिंसक कर्म करने की प्रेरणा देते हैं ।

इसलिये हे हृषिकेश । आप फिर से विचार कीजिये । आप जो कहते हैं ' किंचित भी कर्म मत कर ' तथा ' कर्म तो कर ही ' यह उपदेश विरोधपूर्ण है । निश्चित अर्थ समझमें न आने के कारण यह कथन दूसरों को दुःख ही देनेवाला है । इस उपदेश से मैं विकारग्रस्त बनूंगा । मेरी अपनी सहज स्थिति बाधित होगी मेरा झो अहंभाव-मूलभाव-है, उसे तथा उसकी सहजता को इन शब्दों के द्वारा भारी चोट लगेगी । यह एक प्रकार की हिंसा ही है । इस पर आप ऐसे विचित्र कर्म में हे भक्तवत्सल ! मुझे आग्रह से झोंक रहे हैं । कर्म का स्वीकार और उसका अवलंब करके यह हिंसा आप मुझ से करा रहे हैं । भ्रम में डालनेवाले इन वाक्यों द्वारा मेरी बुद्धि को आप मोह में डाल रहे हैं । इसलिये प्रेमभाव से ही आप मुझे ऐसा निश्चित उपदेश करें कि मैं सहजही आत्मकल्याण को पाऊँ । ५.

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। २ ।।

" भ्रम में डालनेवाले इन वाक्यों के द्वारा मेरी बुद्धि को आप मोहित कर रहे हैं। इस लिये आप मुझे कोई एक निश्चित तथ्य कहें, जिससे मैं आत्मकल्याण को पाऊँगा ।। २ ।।

(व्यामिश्रेणेति)
देवा तूंचि ऐसे बोलावें। तरि आम्हीं नेणतीं काय करावें।
आतां संपलें म्हणों आघवें। विवेकाचे ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! अगर आप ही इस प्रकार कहेंगे तो फिर हम जैसे अज्ञानी क्या करेंगे ? यहां तो सारा विवेक ही नष्ट हुआ जा रहा है।

हे भगवन् यदि आप ही इस प्रकार कहेंगे तो भूला हुवा मुझ जैसा हे पतितपावन अज्ञानी क्या करेगा ? मैं अज्ञान से घिरा हुआ हूँ। आप तो अज्ञान को दूर करनेवाले हैं। अतः मैंने हे सर्वोत्तम आप से सत्यज्ञान की बात पूछी। जिसके जानने से आत्मकल्याण का मार्ग स्पष्ट हो, यही मैं विनीत भाव से पूछ रहा था। किंतु आपने जो उत्तर दिया उसे सुनकर मुझ जैसे अबोध बालक के मन में विवेक की अपेक्षा विकार उत्पन्न होता है। इससे ऐसा लगता है कि मानो संसार से विवेक कहीं भाग गया। अब यहां समझ बूझ का काम नहीं रहा। ६.

हां गा उपदेश जन्हि ऐसा। तरी अपभ्रंश तो कैसा।
आतां पुरला आम्हां धिवसा। आत्मबोधाचा ॥ ७ ॥

यह आपका उपदेश सुनकर ऐसा लगता है कि इससे अलग भ्रम और क्या हो सकता है ? हमारी आत्म बोध की इच्छा ही असफल रहेगी।

हे भगवन्, आपका वाक्य "देव वाक्य" है। वह आत्म कल्याण सुलभ करनेवाला है। आपके शब्द वास्तव में "वेद"

ही हैं किन्तु निश्चित रूप से ज्ञान से सम्पन्न करानेवाले ये शब्द सन्देह निर्माण कर रहे हैं। यदि आपका उपदेश ही ऐसा है, तो यह दास किस बातको प्रमाण मानें ? आपके ही शब्द यदि विकार उत्पन्न करनेवाले हैं, तो फिर वह महाशब्द जो सर्व श्रेष्ठ माना जाता है—वह भी आपका निःश्वास होने के कारण विकारी हो ठहरेगा। इससे तो बड़ा अनर्थ होगा। शब्द ही यदि असत्य होते जायेंगे, तो फिर उनका ठीक ठीक अर्थ कैसे सम्भव है ? ऐसे शब्दों से भ्रम होगा। क्षमा कीजिये, हे भगवन् ! मैं तो आत्मबोध की इच्छा रखता था। जिस बोध में भ्रम-विकार कदापि नहीं रहेगा जो पूर्ण, विशुद्ध तथा निश्चित है, ऐसे स्वरूप के बोध की हे कृपासागर मैं इच्छा करता हूँ। उसका मैं प्यासा हूँ। शब्दों की विकारवशता के कारण यह मेरी प्यास कभी न बुझेगी। हे प्रभो। इससे मैं हे देव दयानिधि ! बहुत व्याकुल बनूंगा। ७.

वैद्य पथ्य वारूनि जाये। मन जरी आपण विषय सुये।
तरी रोगिया कैसेनि जिये। सांगें मज ॥ ८ ॥

वैद्य पथ्य-अपथ्य कहता है और बाद में स्वयं विष ही देगा तो रोगी जिंदा कैसे रह सकेगा ?

वैद्यराज रोगी का निदान करें और उसके लिए पथ्य या अपथ्य बतलायें और फिर औषधी देते समय उसे विष दे दे तो वह रोगी कैसे जीयेगा ? वैद्यराज की दृष्टि ही उसे खा जायेगी तो वह जीनेकी आशा कैसे करेगा ? उसी प्रकार हमारे जीवन में विषयों से छुटकारा पाने के लिए आप तो विरोधी योजना

बना रहे हैं। आप वह बात कह रहे हैं, जिससे विषय-वासना का प्राबल्य हो। ८.

> जैसें आंधळें सुईजे आव्हांटा। कां माजवणें दिजे कर्मठा।
> तैसा उपदेश हा गोमटा। बोडवला आम्हां ॥ ९ ॥

अन्धे को टेढे मेढे रास्ते पर छोड देने या कर्मठ को मद्य पिलाने की तरह आपका यह उपदेश भला ही प्राप्त हुआ।

यदि कोई अंधा रास्ते से जा रहा हो, किसी नियोजित जगह पर उसे जाना हो तो उसे सीधा मार्ग ही दिखाना चाहिए। टेढे या कँटीले मार्ग पर छोडने से क्या वह मंजिल को पहुँच सकता है ? बन्दर को मद्य पिलाने से उसकी चेष्टायें क्या कम होंगी ? वैसे ही मति भ्रम युक्त हमें हे भगवन् ऐसा उपदेश करने से क्या हमारी चंचलता दूर हो सकती है ? कोई कर्मठ व्यक्ति कर्मों में रत रहकर कर्मठताही प्राप्त करेगा। उसका जीवन व्यर्थ ही कर्मों में बीत जाएगा। उसकी बहिर्मुखता जीवन के सच्चे अर्थों से उसे वंचित रखेगी। माला फेरते फेरते युग बीत जाएँगे, किन्तु मनमें परिवर्तन नहीं होगा। वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है ? हे यदुवर, आपका उपदेश भारी बोझ के समान प्रतीत होता है। वह भ्रम उत्पन्न करता है। आपके वाक्य का पालन करना एक प्रकार के मोह में फँसना है। हे पुरुषोत्तम ! मैं जो मांगता हूँ सो आप देते नहीं। मेरी मांग आप स्वीकार नहीं करते। आप तो केवल "यह उचित है" "वह ठीक है" कह कर हे ब्रह्माण्ड के स्वामी ! मेरी इच्छा को अतृप्त बनाये रखते हैं। यदि यह अतृप्ति आपके मतसे

अच्छी हो तो फिर आपके उपदेश के मंगलमय होने में सन्देह ही होगा । ९.

मी आधींचि कांहीं नेणें । वरि कवळिलें मोहें येणें ।
श्रीकृष्णा विवेक याकारणें । पूसिला तुज ।। १० ।।

मैं तो बिलकुल अबोध हूं तिस पर मोह ग्रस्त । इस लिये हे श्रीकृष्ण यह नित्यानित्य का विवेचन मैंने पूछा ।

पहली बात यह है कि मैं किसी निश्चय पर नहीं पहुंच रहा हूँ । इस पर आप ऐसे मोहयुक्त भाषण सुना रहे हैं, जिसे सुनकर मैं भ्रम में पडता हूँ । आपका मोह निःसंशय प्रभावकारी है । वह मुझे संकुचित करता है । मैं बहुत ही असमर्थ हूँ । इसलिए मैं आपसे हे भगवन् श्रीकृष्ण ! फिरसे स्पष्ट उपदेश देनेकी प्रार्थना कर रहा हूं । विचार के साथ विवेक होना चाहिए । विचार तथा विवेक में मेल प्रस्थापित हो । वे एकरस हों । किन्तु आप जो कहते हैं, उसका आशय और ही है । १०.

तंव तुझी एकेक नवाई । येथ उपदेशामाजी गावाई ।
तरी अनुसरले या कायी । ऐसें कीजे ।। ११ ।।

आप तो नित्य नूतन कुछ कहते जाते हैं । आपके उपदेश में ही हम फँसते हैं और फिर किस प्रकार अनुशासन होगा ?

बुद्धि में नई नई जानकारी पाने का उत्साह रहता है । नयेपन की चाह होती है । विविधता, विचित्रता तथा नवीनता की माँग जोरों से उछलती है । वह मानो विचारों का साज श्रृंगार चढा कर ही बैठी है । और फांसने के प्रयत्न में है ।

आप भी विविधता के विकारों को कुशलता से दिखाते हुये हे दयामय मुझे भ्रम में डाल रहे हैं ! वास्तव मे आप स्वयं बुद्धिप्रकाशक हैं। बुद्धि के द्वारा ही आप विविधता निर्माण करते हैं। बुद्धि तो केवल नाम मात्र है। यह आपका कहना इस प्रकार है कि मानो गीत अपने आपको स्वय गाता है। जो आपके उपदेश पर चलना चाहते हैं, उन्हें ऐसा मोहित करना कहाँ तक उचित है? बुद्धि तन्मय होती है। वह विषय में तल्लीन होती है। यह भी एक प्रकार का मोह ही है। और उसी मोह में देह को आत्मा समझकर मैं फँस रहा हूं। हे बुद्धिप्रकाशक, क्या आपका यह कार्य उचित है ? क्या आप ही इस प्रकार शरणागत को भ्रम में डालते हैं ?। ११.

आम्हीं तनुमनजीवें। तुझिया बोला वोठंगावें।
आणि तुवांचि ऐसें करावें। तरी सरलें म्हणे ॥१२॥

तन मन तथा प्राण से हम आपके ही उपदेश का अनुसरण करते हैं। तिसपर आप ही ऐसा कहते हैं ! लगता है कि हमारे जीवित रहने की आशा ही टूटी।

आपके उपदेश को हम लोग तन मन तथा प्राण की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। हमें वह इतना प्रिय है कि उसके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय स्वीकार करना उचित नहीं लगता। हम अनन्य गति से आपको चाहते हैं। आप बुद्धि की विविधता तथा दुविधा में हमें फँसा रहे हैं। यह ठीक नहीं। ऐसा लगता है कि हे संरक्षक प्रभो हमें निराश होना पडेगा। आपही ऐसा करते हैं, तो हमारा आश्रय टूट जायेगा। १२.

आतां ऐसियापरी बोधिसी । तरी निकें आम्हां करिसी ।
येथ ज्ञानाची आशंका कायसी । अर्जुन म्हणे ।। १३ ।।

अर्जुन जी कहते हैं कि अगर इसी प्रकार का उपदेश होगा तो ज्ञान प्राप्ति की इच्छा ही नष्ट हुई ।

अर्जुनजी कहते हैं "हे देव ! ज्ञान प्राप्त करने का साधन बुद्धि है । किन्तु वह स्वयं मर्यादित है । आपका उपदेश वास्तव में मुझ जैसे अल्प बुद्धि की समझमें आ जावे । परन्तु आप जो उपदेश करते हैं, वह इतना दुर्बोध है कि सहजता से समझ में नहीं आता । इतना ही नहीं, जो कुछ समझ में आता है, उससे ज्ञान मिलना तो दूर रहा, चँचलता ही उत्पन्न होती है । हे प्रभो ! आपका उपदेश समझने के लिए बुद्धी को बहुत ही कष्ट उठाना पडता है । और इसमें हमारी बुद्धि केवल "अल्प" ही सिद्ध होती है । आप न हमारी बुद्धि की शक्ति बढाते हैं, न ऐसा उपदेश करते हैं, जो सरल तथा असंदिग्ध हो । इससे ज्ञान प्राप्ति की सम्भावना दूर है । आपका उपदेश हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? अब किसी प्रकार की आपसे आशा रखना सचमुच ही व्यर्थ दिखाई देता है । १३.

तरी ये जाणिवेचें कीर सरलें । (बुद्धि मोहयसीव मे)
परि आणिक एक असें जाहलें ।
जें थितें डहुळलें । मानस माझें ।। १४ ।।

निश्चयात्मक तथा विवेक पूर्ण बात तो नहीं कही गयी किन्तु आपके कथन से मेरा चित्त जो किसी विषय पर स्थिर था अब अस्थिर हुआ है ।

हे देव ! यदि ऐसा ही होता तो भी ठीक था। किन्तु आपने तो कुछ और ही कर डाला। मैं ऐसा विचार चाहता था जिससे निश्चय हो और स्थिरता प्राप्त हो। आपके उपदेश से पहले मेरा चित्त वहुत कुछ स्थिर था। किसी निश्चित विचार पर मैंने अपने को स्थिर किया था। वह विचार भलेही बुरा या अच्छा हो, किन्तु अब आपने मेरे चित्त को पूर्णतया चँचल और अस्थिर कर दिया है, वह तो कुछ समझने की शक्ति ही नहीं रखता। १४.

तेवींचि श्रीकृष्णा हें तुझें। चरित्र कांहीं नेणिजे।
जरी चित्त पाहसी माझें। येणें मिसें ॥ १५ ॥

हे श्रीकृष्ण ! आपका महात्म्य (चरित्र) गहन है। ऐसा लगता है कि आप ही मेरे मानस की मानो इस कथन के द्वारा परीक्षा ले रहे हैं।

आपका चरित्र ही अब मेरी समझ में नहीं आ रहा है। लीलाधरदेव, भगवन्, आपका चरित्र इतना गहन तथा वैविध्य-पूर्ण है। उसे कैसे समझूं ? आपके इन वाक्यों से मैं अज्ञानी वना हूँ। मेरा अनुमान है कि कदाचित् आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं। इस तरह आप मुझे परख रहे हैं। १५.

नातरी झकवित आहसी आमुतें। कीं तत्त्वचि कथिसी ध्वनितें।
हें अवगमितां निरुतें। जाणवेना ॥ १६ ॥

मुझे या तो आप मोहित कर रहे हैं या निगूढ भाषा में

उस परत्त्व को सूचित कर रहे हैं। किन्तु मैं तो कुछ भी नहीं समझ सकता।

हे देव, हे स्वामी, हमें निश्चित तथा स्वरूप ज्ञान की अपेक्षा है और आप तो बहका रहे हैं। सम्भव है आपके स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण हम भटक रहे हैं। शायद यह भी हो सकता है कि आपने वह तत्व शब्दों से सूचित किया हो। वास्तव में सर्वत्र होनेवाली यह "ध्वनि" वा "शब्द" आपके स्वरूप को स्पष्ट करने में असमर्थ है। क्यों कि शब्दों से यह सब कुछ समझा नहीं जाता। शब्द तथा शब्द-तत्व उस "तत्व को" ग्रहण नहीं कर सकते। इसी लिये आपने जो सूचित किया वह मैं समझ नहीं सका। १६

(तदेकं वद निश्चित्य)
म्हणोनि आईके देवा। हा भावार्थ आतां न बोलावा।
मज विवेक सांगावा। मऱ्हाटाजी ॥ १७ ॥

इस लिये हे भगवन्! कृपा करके इस प्रकार दुरूह ध्वनिपूर्ण बातें न कहियेगा। सीधे सरल शब्दों में कुछ विवेक की सीख दीजिए।

हे देव! गुरु, बंधु, पिता, आप जो कहते हैं वह गूढार्थ से युक्त है। उसका अर्थ कठिन होने के कारण स्पष्ट नहीं होता। आपके इस प्रकार कहने से काम नहीं चलता। जिससे जीवन के रहस्य स्पष्ट हों, जिससे मेरा मन मूल—भाव को देख सके, तथा वह निश्चित और स्थिर हो सके, ऐसा स्वरूप ज्ञान मुझे बताइये। वह सरल तथा स्पष्टरूप से कहिए। १७.

मी अत्यंत जड असें। परि ऐसाहि निकें परियसें।
श्रीकृष्णा बोलावें तुवां ऐसें। एकनिष्ठा ॥ १८ ॥

मैं तो बिलकुल जड बुद्धि हूँ। आपका कथन गौर से सुन रहा हूँ। अतः हे श्रीकृष्ण ! आप भी कुछ निश्चयात्मिका वाणी कहिये।

हे भगवन् श्रीकृष्ण, मै अत्यन्त मूढ हूँ। जब तक उस चैतन्य का साक्षात् दर्शन नहीं होता, तब तक तो मैं अज्ञानी ही रहूँगा। उसके समझने में मुझ जैसे को तो कठिनाई जरूर होगी। तो भी भगवन्, आप स्पष्ट बात कहिए। मैं जड बुद्धि हूँ। बालक हूँ। बालक अपनी माँ का अनन्य भक्त होता है। उसे सारी दुनिया माँ के आगे तुच्छ दिखाई देती है। मैं आपके प्रति एकनिष्ठ बन जाऊँ। आप वही कहें। आपके स्पष्ट वाक्य मेरे मन को स्थिर करेंगे। यह सारा संसार आपके सामने मुझे तुच्छ ही लगेगा। मैं एक निष्ठ, एक चित्त तथा स्थिर चित्त बनूंगा। हे भगवन्, यह प्रार्थना है कि आप असन्दिग्ध बात कहें। १८.

देखें रोगातें जिणावें। औषध तरी द्यावें।
परि अतिरुच्य होआवें। मधुर जैसे ॥ १९ ॥

देखिये, बीमारी नष्ट करने के लिये औषध तो जरूर चाहिये किन्तु वह भी अति रुचिकर तथा मधुर हो।

कोई बीमार हो। उसकी बीमारी हटाने के लिए औषध आवश्यक है। किन्तु वह रुचिकर हो तो बीमार बडी श्रद्धा से

उसे ग्रहण करेगा। जिस प्रकार रुचिकर तथा मधुर औषधि बीमार को अच्छी लगेगी, उसी प्रकार आपका मधुर तथा रुचिकर उपदेश भी हमें लुभायेगा, और हमारे जन्म मरण का दुःख भी नष्ट करेगा। १९.

जैसें सकळार्थभरित। तत्त्वता सांगावें उचित।
(येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्) परि बोधे माझें चित्त।
जयापरि ॥ २० ॥

जीवन के सभी अर्थों को स्पष्ट करनेवाला तत्व ही, कृपा करके, मुझे बताइये। उसके द्वारा मेरा चित्त आत्म बोध से परितृप्त रहेगा।

इसलिए हे भगवन्, आप जो मुझे उपदेश दे रहे हैं वह सरल हो। उसमें जीवन के अर्थ पूर्ण रूपसे विद्यमान हों। उन अर्थों में परतत्व का स्पर्श हो। आपका कहना इस प्रकार उचित तथा बोध होने योग्य हो जिसे सुनकर मेरा चित्त बुद्धि के मूल तत्व के द्वारा चमक उठे। वह बहुत रसाल होगा। वहाँ आगे का मार्ग प्रकाशित होगा उस पर चलना कुछ कठिन नहीं। २०.

देवा तुजऐसा निजगुरु। आजि आर्तिधिणि कां न करूं।
येथे भीड कवणाची धरूं। तूं माय आमुचि ॥ २१ ॥

हे देवाधिदेव! आपके समान परब्रह्म श्रीगुरु को पाकर भी, जिज्ञासु तथा आर्त मैं, भला यहाँ कुछ कहने को क्यों सकुचाऊँ? आप तो हमारी माँ के समान हे।

आप तो स्वयं सिद्ध श्रीगुरु हैं। आप आत्मरूपी माता

हैं । यहाँ तो संकोच का कोई काम नहीं । मेरी इच्छा तो तृप्त होती ही नहीं । वह इतनी बलवती है कि अतृप्ति ही बढा रही है । किन्तु जब आप जैसे गुरु मझे मिले हैं, मुझे पूरी आशा है कि आप मेरी इच्छा को तृप्त करेंगे । २१.

हां गा कामधेनूचें दुभतें । तें दैवें जालें अपैतें ।
तरी कामनेची कां तेथें । वाणि कीजे ।। २२ ।।

मुझे कामधेनु का दूध अनायास ही, सौभाग्य से प्राप्त हुआ । फिर कामना अपूर्ण कैसे रह जायगी ? अब जो चाहूँ वह माँग लेना ही उचित है ।

आप सभी इच्छाओं को तृप्त करनेवाली कामधेनु के समान हैं । यहाँ संकोच करने से मैं अपना ही अहित करूँगा । यहाँ धीरज से अपनी इच्छा को तृप्त करने के लिए आवश्यक दृढता ही चाहिए । वास्तव में काम-धेनु के पास कामना तो है ही नहीं । वह स्वयं पूर्णकाम है । उसका दूध यदि अचानक प्राप्त हो जाय तो इच्छा उसी क्षण तृप्त हो जाएगी । अतृप्ति रहेगी ही नहीं । वहां तृप्ति ही तृप्ति होगी । जो कुछ इच्छा होगी वह स्वयं तृप्त होकर ही रहेगी । जिससे केवल तृप्ति ही रहेगी । ऐसे अवसर पर मातृतुल्य श्रीगुरु के प्रसन्न होते ही हम जो चाहें सो माँग सकते है । २२.

जरी चिंतामणी हातीं चढे । तरी वांछेचें कवण सांकडें ।
कां आपुलेंनि सुरवाडें । इच्छावें ना ।। २३ ।।

सभी प्रकार की इच्छाओं को तृप्त करनेवाला "चिंतामणी"

हाथ में आ जाय तो फिर इच्छा संकट ग्रस्त नहीं रहेगी। स्वेच्छा से हम कुछ भी माँग सकेगें।

सभी प्रकार की इच्छाओं को तृप्त करने वाली, दुःखों को दूर करनेवाली चितामणि यदि प्राप्त हो जाये तो आप के सत्यमय होनेसे हम इच्छा का तथा दुःखों का संकट ही क्यों माने ? वहाँ इच्छा के तृप्त होने से संकट नहीं रहेगा। इच्छा का संकट दूर होगा। इच्छा होने पर जब वह पूरी नहीं होती, तब दु.ख होता है। तब इच्छा संकट ही है। किन्तु चिन्तामणि के प्राप्त होने पर वह इच्छा तृप्त होगी। इससे इच्छा पूर्ण होगी। किन्तु मेरे स्वभावगत जो अतृप्ति होगी, वह यदि कोई इच्छा करेगी तो पूर्ण न होगी। किन्तु आप जैसे दयालु के मिलने से वह इच्छा भी पूर्णकाम और त्वरित तृप्त होकर ही रहेगी। २३.

देखैं अमृतसिंधूतें टाकावें। मग ताहाना जरी फुठावें।
तरी साहस कां करावें। मागील तें ॥ २४ ॥

अमृत–सिंधु के पास जाने पर भी पिपासा बनी रहेगी तो किये गये परिश्रम व्यर्थ ही होंगे।

यदि इस प्रकार इच्छा तृप्त ही न होगी तो आपके पास आने का श्रम ही व्यर्थ होगा। आप तो पूर्ण काम हैं, जहाँ "शम" अर्थात "शाँति" सदैव विद्यमान है। हे देव देवोत्तम, हमारा श्रम आपके पास आने से यदि सफल न हो तो भी आप "शमस्वरूपी" नहीं, यह हम कैसे कह सकते हैं ? जिसे प्राप्त करने के लिए अत्यन्त श्रम किया गया उस अमृतसिन्धु के पास

पहुँचने पर भी, हमारी प्यास यदि हमें व्याकुल ही बनाती रहेगी, तो इसे हम क्या कहें ? वास्तव में अमृत सिन्धु का दर्शन ही हमारी व्याकुलता दूर कर देगा। आप जैसे पूर्णकाम का दर्शन मेरी इच्छाओं को पूर्ण करेगा ही। यहां पूर्णता का अमृत पीना ही चाहिए। पीने के बाद वह असाधारण समाधान प्राप्त होगा।

वास्तव में आप जैसा अमृतसिन्धु परम मंगलधाम हमें प्रारब्धवश प्राप्त हुवा है। हम प्यासे हैं। प्यास बुझाने के लिए अमृत सामने है। तब हम क्या केवल देखते ही रहेंगे ? अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त होनेवाले अमृत के निकट होने पर भी, हम दुःखी तथा उदास क्यों रहें ? भूखा बालक माँ के पास पहुँचने पर स्तनपान के लिये कब अवसर देखेगा ? वह तत्काल पीना शुरु करेगा ! उसी प्रकार अमृत पीकर अमर पद का अनुभव करना ही चाहिए। आप सागर के समान विशाल हैं। आकाश के समान सर्व व्यापी हैं। व्याकुलता के कारण यदि मेरा चित्त टूट जाय, तो भी सर्वत्र दिखाई देनेवाले आप वह अमृत पिलाकर मेरी व्याकुलता दूर करेंगे, मुझे अमरत्व देंगे। वहाँ क्रिया ही अमृत बनायेगी, जो वास्तव मे चिरंजीवी है, फलस्वरूप जो स्वयं अमृत है। आपका दर्शन सौभाग्य से ही प्राप्त हुवा है। यों ही समय व्यतीत करना व्यर्थ ही होगा। जो प्राप्त हुवा है उससे ठीक लाभ उठाना ही चाहिए। अमरत्व प्राप्त करके चिर समाधान होने का सुवर्ण अवसर फिर से कहाँ मिलेगा ? इस योग से ही वह अमरत्व प्राप्त होता है। सभी साधन पूर्णता को

प्राप्त होते हैं। इसलिए हे भगवन् ! अब मुझे यथायोग्य उपदेश करना ही उचित होगा।

………यहाँ साधन सम्पदा ही पूर्ण है। वह स्वयं पूर्ण है। इससे वह पूर्णत्व उसी पूर्ण को ही प्राप्त होता है। पूर्ण को ही पूर्णता का समाधान प्राप्त होता हैं। यहाँ प्यास की व्याकुलता अपने को ही पीकर तृप्त होती है। अमरपद प्राप्त करने के लिए अमृत साधन है। अमृत साधन भी है तथा सिद्धि भी। यहाँ साधन सिद्ध है। अब जो अमृत पोने की क्रिया है वह भी अमृतमय ही है। इस प्रकार साधन, साधना तथा सिद्धि यहाँ एकता को प्राप्त होते हैं। ऐसी एकता के मूर्त रूप, हे भगवन्, आप हैं। आप मुझे मिले हैं तो फिर मैं दुःखी क्यों रहूँ? आपका स्मरण ही हमारी क्रियाशक्ति को समर्थ बनायेगा। इस लिए आप का चिन्तन, स्मरण हम सदा ही करते जाएँ। हमें आपही के चरणों में लीन होना चाहिए। अमृत में ही विलीन हो जाना चाहिए। यहीं मरना चाहिए। किन्तु जिस अमृत को मृत्यु विदित ही नहीं वह हमें कैसे मरने देगा ? क्यों कि उसका गुण ही अमरत्व प्रदान करना है। मोह द्वारा व्याकुल हुए मेरे चित्त को जानकर मेरे कल्याण के लिये जो उचित है, उस अमृतत्त्व का प्रकाश करेगा ! हे भगवन् प्राणसखा, प्राणसर्वस्व इष्ट देवता आपही प्राण रक्षक हैं। वह अमृत हममें अमृतत्व का प्रकाश निर्माण करेगा। हमें अनन्य होकर रहना चाहिए। हम यदि फूटे हुवे, बिखरे हुवे ही रहेंगे तो जीवन सम्पूर्णतया तृषित ही रहेगा। इसलिए आप ही के चरणों का आश्रय लेने की

लगन लगी रहनी चाहिए। आप ही के पास अमरत्व है। आप ही अमृत हैं। आपका प्रसाद ही हमें नया प्रकाश दिखायेगा। इसलिए आप से दूर होने का विचार ही नही करना चाहिए। आपसे, यदि हम दूर हो जाएँगे तो हमारे हाथ कुछ भी नहीं आएगा। क्यों कि वह दिव्य प्रकाश नष्ट हो जायगा। हम अपनी बुद्धि को अन्धी बना देंगे क्यों कि उसमें वह "तत्व" देखने की शक्ति कहाँ है? वह केवल मृग जल को ही अपनायेगी। इससे हमारा जीवन व्यर्थ तथा असफल बनेगा। इसलिए हमें अपने चित्त को स्थिर बना देना चाहिए। अस्थिर चित्त चन्चल होता है। अस्थिरता के कारण स्थिरता का आना असम्भव है। स्थिरता का अमृत सामने आने पर उसे न पीने की आतम-वंचना हम क्यों करें? अमृत से वंचित न होकर उसे पीकर ही वह अमृतत्व प्राप्त करना चाहिए। जीवन की सफलता, स्थिरता, गति और प्रकाश इसी अमृत मे आपके चरणों में हैं और इसलिए अनन्य होकर हमें आपकी शरण में ही आना चाहिए। अतः हे भगवन्! मेरी प्यास आप ही के बुझाए बुझेगी। २४.

तैसा जन्मांतरीं बहुतीं। उपासितां श्रीकमळापति।
तों तूं दैवें आजि हातीं। जाहलासी जरी॥ २५॥

जन्म जन्मों की उपासना के फलस्वरूप श्री भगवान् कमलापति आज मेरे स्वाधीन हैं। तो फिर--

हे लक्ष्मीपति, आपकी प्राप्ति सहज नहीं होती। उसके लिए जन्म जन्मोंतक उपासना करनी पडती है। मेरी इच्छा पूर्ण

करने के लिये आप जैसे वरदाता मुझ से प्रसन्न हुवे हैं। आज मेरा जीवन, इसलिए मुझे सफल दिखाई देता है, कि मेरी उपासना फलदायी हुई है। मैं भाग्यवान हूँ। आपका दर्शन मुझे हुआ है। इतना ही नहीं, आप मेरे अधीन हुए हैं। यह कैसा सौभाग्य है? वास्तव में आप अपने अधीन हैं, किन्तु दैव-वश मेरे कल्याण के लिए आपने अपने को मेरे हाथ सौंप दिया है। २५.

तरीं आपलेया स्वईछा। कां न मगावेसी परेशा।
देवा सुकाळ हा मानसा। पाहिला असे ॥ २६ ॥

मैं अपनी इच्छा क्यों न पूरी कर लूं? हे देव, परेश! मेरे मानस ने आज सुयोग ही देखा है।

ऐसे सुअवसर पर मुझे अपनी अभिलाषा तृप्त कर लेनी ही चाहिए। वास्तव में आपका दर्शन ही मेरे मन की इच्छा तृप्त करने वाला मंगलमय है। यहाँ "आपका प्रेम वढता रहे" यही इच्छा पूर्ण हो। देव और भक्त की एकता सदैव बढती रहे। २६.

देखें सकळार्थिचें जियालें। आजि पुण्य यशासि आलें।
हे मनोरथ जाहले। विजयी माझे ॥ २७ ॥

सभी इच्छाओं का साफल्य आपके रूप में साकार हुआ है। मेरी इच्छा सफल हुई। यशपूर्ण हो गया। मेरा मनोरथ विजयी बना।

मेरे मन में जो इच्छाएं हैं वे स्वयं फलरूप हैं। यहाँ वे सभी पूर्णता को प्राप्त हुई हैं। आपके दर्शन से उनकी सफलता

का जन्म हुआ है। मेरा पुण्य यशस्वी तथा शोभायमान हुआ है। यहाँ मेरे मनोरथ मानो विजयी हुए हैं। वे "विजयी" होने से प्रफुल्ल हो उठे हैं। उद्-घोष कर रहे हैं। २७.

जी जी परममंगळधामा। देवदेवोत्तमा।
तूं स्वाधीन आजि आम्हां। म्हणउनियां ॥ २८ ॥

हे परम मंगल देवदेवोत्तम ! आप हमारे स्वाधीन हुए और आपने ही उन्हें विजयी बनाया।

हमारे मनोरथ जो विजयी हुए हैं और विजयी होने पर घोषणा कर रहे हैं, यह क्या उनकी विजय है ? इस पर क्या उन्हें गर्व होना चाहिए ? हे परम मंगल देव देवोत्तम्, आपने ही प्रसन्न होकर, हमारे स्वाधीन होकर उन्हें विजयी बनाया है। यह मेरा भाग्योदय है। हममें जो स्वयं चैतन्य है, जो तत्त्व है, "सोहं" है, उसके संपूर्ण अधीन जो आप श्री भगवान हैं, जो विशुद्ध तथा सर्वदा विजयी हैं, 'विजयीभव' ऐसा आशीर्वाद देते हैं। अतः हमारे विजयघोष, हे भगवन्, वास्तव में आपकेही हैं। २८.

जैसें मातेच्या ठायीं। अपत्या अनवसरू नाही।
स्तना लागोन पाहीं। जयापरी ॥ २९ ॥

नन्हा बालक माँ का दूध पीने के लिये किसी भी प्रकार कभी सकुचाता नहीं। जब चाहे तब वह माँ का वात्सल्य रूप स्तन्य पीता रहता है। हे भगवन् उसी प्रकार–

माता की वात्सल्य दृष्टि सदैव स्नेहयुक्त होती है। वह

अपने बच्चे की ओर प्रेम से देखती है। उसके अंतःकरण में वात्सल्य का भाव सदा के लिए उमडता रहता है। वह वात्सल्य के लिए सुअवसर की खोज में नहीं रहती। दूध पिलाने के लिए वह सदैव जिस प्रकार आनंद से तत्पर रहती है, उसी प्रकार बच्चा भी सदा अपनी माँ का दूध पीने की चाह रखता है। वह कभी यह नहीं देखता कि समय अच्छा है या बुरा। केवल भूख लगना ही उसके लिए पर्याप्त है। भूख लगते ही वह तुरन्त मांगता है। २९.

तैसें देवा तूंतें। पुसिजत असें आवडतें।
आपुलेनि आर्ते। कृपानिधी ॥ ३० ॥

हे कृपानिधि, भगवन्! जो मुझे प्रिय है वही मैं अत्यन्त आर्ति से पूछ रहा हूँ।

नन्हे को जैसे उसकी माँ का दूध भाता है, वह केवल उसी की माँग करता है, उसमें किसी प्रकार संकोच नहीं करता, रो-रोकर एक वही बात चाहता है, वैसेही हे भगवन्, मुझे जो भाता है, मैं वही माँग रहा हूँ। अतः हे कृपानिधि, संसार के थके-माँदों को विश्रान्ति आपही की कृपा से मिल सकती है। कृपा करके मुझे फिर से स्पष्ट उपदेश कीजिए। ३०.

तरी परत्रिकीं हित। आणि आचरितां उचित।
तें सांगें एक निश्चित। पार्थ म्हणे ॥ ३१ ॥

परलोक में सहायक तथा हितकर और आचरण में सुलभ ऐसी कुछ निश्चित बातें कृपापूर्वक कहिये।

हे दयासागर, हे कृपानिधि ! जिससे मेरा पारलौकिक कल्याण हो, जिससे मेरा चित्त समाधान पाये और जिसका आचरण मुझे मोहजाल से छुडाए ऐसा एक विचार मेरे सामने रखिए । ३१.

श्रीभगवानुवाच :–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। ३ ।।

श्री भगवान ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन ! इस जगत में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं, यह तो मैंने पहले ही कहा है । सौख्यनिष्ठा ज्ञान रूप से तथा योगियों की निष्ठा कर्म रूपसे युक्त रहती है ।

(पुरा प्रोक्ता मयानघ)
या बोला श्रीअच्युतु । म्हणत असे विस्मितु ।
अर्जुना हा ध्वनितु । आभिप्राय ।। ३२ ।।

अर्जुन जी का वक्तव्य सुनकर भगवान को बहुत ही आश्चर्य हुआ । आप बोले–हे अर्जुन ! यह मेरा कथन ध्वनि पूर्ण, गंभीर है ।

अर्जुन का कहना सुनकर भगवान को परम विस्मय हुआ । वास्तव में अर्जुन ने जो प्रश्न पूछा था वह निःसंशय महत्व का था तथा आवश्यक भी था । इस प्रकार प्रश्न पूछना भगवान को प्रिय लगा । ऐसा मनोहर तथा सुंदर प्रश्न पूछने सेही उन्हें एक प्रकार आश्चर्य हुआ । हम भी देखते हैं कि कभी बालकों के या किसी अज्ञानी जिज्ञासुके द्वारा मार्मिक तथा महत्व का

प्रश्न पूछा जाने पर आश्चर्यही प्रतीत होता है । अर्जुन का गूढ भाव जानकर भगवान कहने लगे कि हे अर्जुन, हमने जो कहा और जो वास्तव में सत्य ही है वह बुद्धि से परे है । इससे वह बुद्धि की कक्षा में नहीं आ सकता । अतः हमारा वक्तव्य उस तत्वज्ञान को अपनाने का संकेत मात्रही है । अब यह आवश्यक है कि उसे फिरसे स्पष्ट करूं । ३२.

जे बुद्धियोग सांगतां । सांख्यमत संस्था ।
प्रकटली स्वभावतां । प्रसंगें आम्हीं ।। ३३ ।।

बुद्धियोग का विश्लेषण करते समय मुझ से सांख्य शास्त्र का भी विवेचन सहज ही हुवा ।

बुद्धियोग का विवेचन करते हुवे स्वभावतः ज्ञान का भी स्पष्टीकरण हमने किया । बुद्धियोग तथा ज्ञानमें भिन्नता न होने के कारण वह सहज स्पष्ट हुआ है । साँख्यशास्त्रज्ञ ज्ञानप्रिय कहलाते हैं । बुद्धियोग का उद्देश्य भी वही है । मेरी ओर से यह सहज प्रसंग से ही प्रकट हुआ है । वास्तव में प्रसंग तो सहज ही होता है । हम सभी प्रासंगिक हैं । विद्यमान रहना यही प्रसंग है । उसे सरल तथा पूर्णतया समरस होकर देखना उचित है। उससे किसी प्रकार अलग रहना ठीक न होगा । संपूर्ण तन्मयता महत्व की बात है । उसके विशुद्ध भावों की तन्मयता में पूर्ण समरसता संभव है और वहीं रसमयता का अपूर्व आनंद प्रतीत होगा । जीवन के संग्राम को देखते समय, यदि हम इस प्रकार प्रसंग को जानकर, समझकर अनुभव करेंगे, एक प्रकार विरक्त होकर देखेंगे, तो उस एकता में, रसमयता वा समरसता में

कभी व्याकुलता नही आएगी । ज्ञान की दृष्टि से, यही एकता वा एकरसता का महत्व है । ३३.

तो उद्देश नेणसीची । म्हणउनि तूं क्षोभलासि वायांचि ।
तरी आतां जाणै मीचि । उक्त दोन्ही ॥ ३४ ॥

इस हेतु वह तेरी समझ में नहीं आ सका । अतएव तू व्यर्य ही क्षुब्ध हुआ । तुझे व्यर्थ ही परिश्रम हुआ । वस्तुत: वे दोनों विचार मुझ में एक रूप ही हैं । वे तत्व अलग नहीं । वे मैं ही हूँ ।

इस गहरे उद्देश को सामने रखकर हमने विवेचन किया था । किन्तु वह तुझे स्पष्ट नहीं हुआ । इससे तेरे अंत:करण में जो भय उत्पन्न हुआ वह अकारण ही था, किन्तु वह पृच्छा के रूपमें प्रकट हुआ और उसने इन बातों को स्पष्ट किया । ज्ञान की एकात्मता जीवन में सत्य की प्रतीति करा देती है । अत: अत्यंत आवश्यक होने के कारण मैंने आपही उसे स्पष्ट किया । तो भी फिरसे यह समझ ले कि उपरोक्त दोनों निष्ठाएँ मुझमें ही स्थित हैं । वहाँ का दर्शन तथा विवेचन कल्याणमयही होता है । वह शुभ है । ३४.

अवधारीं वीरश्रेष्ठा । (लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा)
ये लोकीं या दोन्हीं निष्ठा ।
मजचिपासून प्रकटा । अनादिसिद्ध ॥ ३५ ॥

हे वीर श्रेष्ठ ! ये दोनों निष्ठाएं मुझ से प्रकट हुई हैं । वे दोनों (ज्ञानयोग और कर्मयोग) अनादि सिद्ध हैं ।

अतः हे वीर श्रेष्ठ, ठीक ठीक सुन ले कि यह जो दो निष्ठायें हैं, वे अनादि सिद्ध है। पहले सेही उनका अस्तित्व है। वे मुझमें श्री भगवान में ही स्थित हैं। मुझसे ईश्वर सेही वे प्रगट होती हैं। उनका अनादित्व तथा वासनाओं के अन्तर्गत दृष्टिकोण सुलभ रीति से समझे नहीं जा सकते, जब तक कि मैं पुरुषोत्तम उन्हें प्रगट नहीं करता। आशय यह कि तेरी बुद्धि इन सबको समझने योग्य नहीं। अतएव ठीक ध्यान देकर सुन। बुद्धि की ही आँखों को सावधान होना चाहिए। बुद्धि का वैचित्र्य विलक्षण है। वह अपने को कभी स्थिर नहीं पाती। वह तो अपनी ही धुनमें घूमती रहती है। वास्तव में उसे संयमित होना चाहिए। संयमित होकर अर्थात् अनादि काल का वह विलास त्याग करके स्थिर होना चाहिए। जब बुद्धि इस प्रकार स्थिर होगी तब एकनिष्ठता संभव है। जिस प्रकार की बुद्धि है उसी प्रकार वासना। वासनाओं का वैचित्र्य भी विलक्षण है। उनकी विविधता का भाव—मूल-जब स्वयं प्रसन्न होकर इन वासनाओं को दूर हटायेगा, तब यह दृढता संभव है। प्रसंगोचित व्यवहार अर्थात जिस प्रसंग में जो उचित हो वही व्यवहार करना, पूर्णरूप से सरल होना, यह एक निष्ठा है। ये वासनाअें अनादिकाल से हैं। उनका आदि—अनादित्व पूर्ण सिद्ध है। जिस प्रकार उनके अनादित्व की सिद्धि निश्चित है, उसी प्रकार वे भी अपनी निष्ठा नहीं छोडती। यहाँ "पुरुष" के लिए आवश्यक "प्रकृति" का संबंध ही निष्ठारूप धारण करके स्थिर है। ३५.

(ज्ञानयोगेन सांख्यांनां)

एक ज्ञानयोग म्हणिजे । तो सांख्यीं अनुष्ठिजे ।
जेथ वोळखीसवें पाविजे । तद्रूपता ।। ३६ ।।

एक तो ज्ञानयोग है जिसका अनुष्ठान सांख्य-ज्ञान-योगियों के लिये है । आत्म स्वरूप की पहचान होते ही वहाँ सच्ची तन्मयता होती है ।

वासनाओं के पास सूक्ष्मतम बुद्धि तत्व का स्पंदन है । बुद्धितत्व की तरंगें सूक्ष्मतम रूपसे वहाँ उठती हैं । यह तरंग अर्थात स्पंदन चैतन्य से संबद्ध है । चैतन्य की ही चेतना उन सूक्ष्मतम तरंगों को प्रभावित करती है । उसी चेतना के आधार पर वह वासनाओं की तरंगें ज्ञान का आश्रय करती हैं । वे तरंगें वास्तव में ज्ञानको स्वयं महत्व देती हैं जिससे ज्ञानयोग सुलभ है । यहीं पर इस बुद्धि का स्वामी वह ज्ञान-घन आत्मा जो इन सभी वाणियों (परा, पश्यंति, मध्यमा, वैखरी) का आधार है, स्वयं अपने मेंही स्थित होता है । यहाँ जिसे हे प्यारे हम ज्ञानयोग कहते हैं वह वास्तव में "पितामह" के समान है क्यों कि जीवन के निर्माण में वह महान तत्व ही सर्वप्रधान है और उस ज्ञानमयी अवस्था के लिए भी महत् तत्व का प्रधान्य है । अतः इसका महत्व भी है । वहाँ बुद्धि का सामर्थ्य वास्तव में चैतन्य का सामर्थ्य है । देखना, पढना यह सब कुछ उद्दिष्ट अपनी ही अनुभूति के द्वारा, अपनी ओर से उसी आत्मतत्व से-प्राप्त होता है । यहाँ की अनुभूति तथा स्मृति एकात्मता निर्माण करती हैं । ३६.

(कर्मयोगेन योगिनाम्)
एक कर्मयोग जाण । जेथ साधक जन निपुण ।
होऊनियां निर्वाण । पावती वेळें ॥ ३७ ॥

दूसरा कर्मयोग है । ऐसे साधक साधना में प्रवीण होकर थोडी देर से निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं ।

इस प्रकार बुद्धि द्वारा, जो स्वभावतः ही चैतन्यमय है, उस ज्ञानघन आत्मा का स्मरण फिर से कर लेने से वह ज्ञान स्थिरता को प्राप्त होता है । यही क्रम जब हे वीर श्रेष्ठ, प्यारे अर्जुन ! हम निरंतर करते रहते हैं तब ही अनुभव से स्थिरता आती है । यह स्थिरता एक रूपता निर्माण करती है । इस प्रकार एकरूप तथा तन्मय होनेवाला योगी सहज ही कर्मयोग का आचरण करता है । वास्तव में वह स्वयं कर्मयोग को ढूंढता नहीं, किंतु कर्मयोग ही उसका पीछा करता रहता है। वह स्थित-प्रज्ञ योगी उस कर्म योग के निश्चित सिद्धान्त अथवा स्थान ठीक रूपसे निरखता है । उन्हीं के अनुसार उसका आचरण सहज होता है । उन सिद्धान्तों वा स्थानों को लक्ष्य बनाकर साधक अपना मार्ग निश्चित करते हैं । अतः इस योग को कर्मयोग कहा जाता है । वहाँ के साधक भी सिद्धों के अनुसार पूर्णत्व प्राप्त कर लेते हैं । यहाँ अभ्यास का महत्व अधिक है । किन्तु वह अभ्यास प्रयत्नाबलंबी न होकर सहज होता है । वह अभ्यास स्वभावही बन जाता है । वहाँ पर "भाव" की निर्मिति से वह स्वयं नष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह कि वह स्वभाव बनता भी है और बनता भी नहीं । अर्थात उसका किसी प्रकार

प्राबल्य नहीं होता। निर्वाण का अर्थ है अंत। यहाँ स्वभाव उस स्वरूप में विलीन होता है। वहाँ समय अपनाया जाता है और वहाँ नित्यत्व स्थिर होता है, भूत तथा भविष्य का अविष्कार ही नहीं रहता। केवल वर्तमान में स्थित, नित्य अनुभव प्राप्त होता है। ३७.

हे मार्ग त्न्ही दोन्ही। परि एकवटती निदानीं।
जैसी सिध्यसाध्य-भोजनीं। तृप्ति एकी ॥ ३८ ॥

बाह्यत: ये दोनों मार्ग अलग अलग दिखाई देते हैं, किन्तु अन्तिम रूप में ये एक रूप ही हैं। उनकी मंजिल, ध्येय एक ही है। उनसे एक ही प्रकार का साफल्य प्राप्त होता है। भोजन तैयार करने के बाद खाने से या तैयार भोजन खाने से एक ही तरह की तृप्ति है।

उपर के दोनों मार्ग भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं। वास्तव में यह सत्य नही। क्यों कि ये दोनों मार्ग एक ही जगह पहुँचते हैं। उनका पर्यवसान एकही है। किस प्रकार वह निराकार साकार हुआ है, यह देखना, अथवा वह साकार उस निराकार का ही रूप है, यह समझना दोनों एकही है। एकही चैतन्य के खेल की ओर देखने की दृष्टि भिन्न है। किन्तु वह चैतन्य एकही है, साध्य एकही है। अतएव इन दोनों दृष्टिओं से एकताही प्रस्थापित होती है। दोनों का देखना भी एक है। सहज सिद्ध भोजन के द्वारा प्राप्त होनेवाली तथा तैयार करने के पश्चात् प्राप्त होनेवाले भोजन के द्वारा तृप्ति वास्तव में एकही प्रकार की है। तृप्ति में अंतर नहीं। उसी प्रकार ज्ञानयोग या कर्मयोग

के आचरण से प्राप्त होनेवाले अनुभव तथा सफलता में कोई अन्तर नहीं होगा। ३८.

कीं पूर्वापर सरिता। भिन्न दिसती वाहतां।
मग सिंधुमिळणीं ऐक्यता। पावती सेखीं ॥ ३९ ॥

पूरब से बहनेवाली तथा पश्चिम से बहनेवाली नदियाँ सागर में मिलकर आखिर एक ही होती है।

पूरब से बहनेवाली नदी अलग है, व पश्चिम से बहनेवाली नदी अलग। इतनाही नहीं, तो उनका पानी भी अलग है। किन्तु जब ये नदियाँ परस्पर अपने को समुद्र में विसर्जित करती हैं तब एक होजाती हैं। उनमें पार्थक्य नहीं रहता। उनका पानी एक होजाता है। और उनका द्वैत भी नष्ट होता है। एकात्मकता की अपूर्व अनुभूति उस संगम पर होती है जहाँ वे साध्य–सागर के पास पहुँचती हैं। ३९.

तैसी दोन्ही हीं मतें। सुचित एका कारणातें।
परि उपास्ति ते योग्यते। आधीन असे ॥ ४० ॥

वस्तुतः ये दोनों मत एक ही कारण की (हेतु की) ओर संकेत करते हैं। किन्तु स्वभाव-भिन्नता से तथा अलग अलग योग्यता के कारण हरेक का मार्ग अलग रहता है।

भिन्न भिन्न दिशाओं से बहनेवाली इन नदियों का द्वैत, पात्रों की विशेषता के कारण है। जिस प्रकार "पात्र" ही उनमें भिन्नता निर्माण करता है, उस प्रकार यहाँ भी 'पात्रता' अर्थात उनकी योग्यता ही इन दो मार्गों का निर्माण करती है। अतः हे प्यारे इन दो मार्गों को ठीक ठीक समझकर अति सूक्ष्म वृत्ति से

उनकी नियुक्ति आवश्यक है। यदि यह ज्ञान अपनाया जायगा तो इन मार्गों की एकता स्पष्ट होगी। ऐसेही व्यक्ति अपनी बुद्धि का प्रसार करते हैं और केवल अनुभव से अपनी स्थिति को स्थिर करते हैं। यहाँ जो वासनाओं का अनादित्व है वह वासनाओं के ऊपर ही छोड दिया जाता है। वासनाओंकी प्रवृत्ति और विकार के बारे में मन को या अंतःकरण को अस्वस्थ बनाने का कोई कारण नहीं रहता। वहाँ की प्रज्ञा, व्यक्ति को इन सभी बातों से अलिप्त रखती है। जो जिसका हो वह उसे प्राप्त होता है। इससे किसी प्रकार अस्वस्थता का निर्माण नहीं होता। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त मतों को अपनाने से पहले यह देखना आवश्यक है कि इनका ठीक ठीक अर्थ क्या है और अपनी योग्यता क्या है? इसे अपनाने से और किस प्रकार अपनाने से हमें सुख होगा। जब अंतरात्मामें दृढ परमात्मस्वरूप को–जो गूढ है–हम यथार्थ रूप से देखते जायेंगे तब ही हमें उनकी एकता का अनुभव होगा। और अपनी पात्रता के अनुरूप सहजही अपने मार्ग पर चलेंगें। मार्गों को निश्चित करते ही उनकी एकात्मता तथा लक्ष्य की एकता प्रतीत हो जायेगी। यही इस उपासना की विशेषता है। ४०.

देखें उत्प्लावनासरिसा। पक्षी फळासि झोंबे जैसा।
सांगें नर केंवि तैसा। वेगा पावे ॥ ४१ ॥

एक ही उडान में पंछी फल को पकडता है। आदमी को यह कैसे संभव है? (आदमी धीरे धीरे पेड पर चढकर फल पा सकेगा)

जिस प्रकार पक्षी उडान भरते समय फल को ही पकडता है, उस प्रकार साधक अपने लक्ष्य की ओर तुरंत झपटता है। लक्ष्य से एकात्म होता है। वहाँ के अनुभव से एकरूप बनता है वहाँ एकात्मता ही उसे प्रतीत होती है। वह अपने लक्ष्य को पूर्ण रूपसे अपनाता है। यह सब करने के लिए अपनी गति बढानी पडती है। वह चपलता से, मानो उडान भरके ही अपनी इच्छा पूर्ण करता है। (अपनी गति वहाँ के अनुभव से अेकात्म करकेही रहना पडता है) यह एक प्रकार से अलौकिक है। यह कोई सहज व्यापार नहीं। सामान्य व्यक्ति के लिये तो इस प्रकार गति पाना असंभवही है। अतः इस गतिमान ज्ञान-मार्ग का अनुसरण बडाही कठिन है। ४१.

तो हळुहळु ढाळेंढाळें। केतुलेनि एके वेळें।
मार्गाचेनि बळें। निश्चित ठाकी ॥ ४२ ॥

सुनिश्चित मार्ग की सहायता से धीरे धीरे ठहनियों पर चढकर फल को प्राप्त कर सकेगा।

अत: पक्षियों की उडान के मार्ग को छोडकर, धीरे धीरे एक टहनी से दूसरी टहनी पर जाते जाते विहित कर्माचार के आधार पर यदि वह साधक अपना मार्ग तय करेगा, तो भी वह अपने इच्छित फल को प्राप्त करेगा। वह मार्ग ही अगले मार्ग को बताता है। वह साधक को सीधे फल के पास ले जाता है। दोनों का साध्य एकही है। एकही फल को वे लेना चाहते हैं। किन्तु वे अपनी अपनी उपासना के अनुरूप पात्रता के अनुसार अलग अलग मार्ग पर चलते हैं। अन्त में वे दोनों मार्ग एक

होजाते हैं। उनका संगम उनकी एकता को स्पष्ट करता है। ४२.

तैसे देख पां विहंगमातें । अधिष्ठूनि ज्ञानातें ।
सांख्य सद्य मोक्षातें । आकळिती ॥ ४३ ॥

ज्ञान योग का मार्ग विहंगम मार्ग है । सांख्य ज्ञानी ज्ञान को ही लक्ष्य करके मोक्ष को पाते हैं। उन्हें तुरन्त ही मुक्ति मिलती है।

ज्ञानमार्ग विहंगम मार्ग है। उसका साधक ज्ञान का अधिष्ठान स्वीकार करता है। वहाँ सीधे चैतन्य का साक्षात्कार होता है। शब्दों को भेद कर, उसके भावों द्वारा सीधे चैतन्य को लक्ष्य बनाया जाता है। वहाँ शब्द अर्थात् उसका ज्ञान शब्दाकार, शब्दोच्चारण, तथा शब्दप्रामाण्य इन तीनों के द्वारा आदितत्व को छूता है। उस आदितत्व कोही स्पर्श कर लेता है। इससे वह शब्द उस अंगोपांगरहित अर्थात् शुद्ध परतत्व का साक्षात वाचक होता है। वहाँ का उच्चारण चैतन्यका दर्शन है। यह एक प्रकारसे देहाभिमान का नाश करना है। वहाँ लीनता रखना, उस परत्माके चरणों का साक्षात दर्शन है। केवल अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त हुआ यह देवताभाव ही है। मनुष्यदेह जब पूर्णतया अपने रूप में विलीन होता है, तब ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। सांख्य योगी की विशेषता यह है कि वह जिस प्रकार चाहे, आकाश को भी भेद कर शून्य को पार करके आत्म-तत्व को स्पर्श करता है। उसकी तत्व जिज्ञासा देहाभिमान के साथ सच्चे व्यक्तित्व को विलीन करते हुए पर तत्व का साक्षात दर्शन कर लेती है। इस लिये बुद्धिकी प्रधानता स्वीकार

करनेवाले शास्त्र, साँख्यों का अनुसरण करते हैं। ४३.

परी योगियें कर्माधारें। विहितेंचि निजाचारे।
पूर्णता अवसरें। पावते होती ॥ ४४ ॥

कर्मयोगी विहित कर्मों को आचरते हैं। उनके इस आचरण से ही योग्य समय पर पूर्णता प्राप्त होती है। मोक्ष लाभ होता है।

जो कर्मयोगी हैं वे विहित आचरण करते हैं। धीरे धीरे मार्ग पार करते हैं। वास्तव में 'योग' को कर्म का आधार देते हैं। अपने मन को भी उचित कार्य देते हैं। अपने को योग के अधीन करके वे स्थिरता प्राप्त करते हैं। यह आचार होनेपर भी ज्ञानयोग से संबंध रहने के कारण अर्थात कर्मों के द्वारा योग को स्वीकारते हुये भी ज्ञान योग को अपनाते हैं। वहां जब वे पूर्ण ज्ञानी होते हैं तब वे भी देवताभाव को पहुँचते हैं और धर्म धारणा का कार्य करते हैं। ४४.

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कर्मों को न छोडकर ही निष्कामता प्राप्त होती है। प्राप्त कर्मों को न छोडने से ही सिद्धि प्राप्त होती हैं ॥ ४ ॥

(न कर्मणामनारंभात्)
वांचूनि कर्मारंभा उचित। न करितां सिद्धवत।
कर्महीना निश्चित। होईजेना ॥ ४५ ॥

विहित कर्मों का आश्रय छोडकर ज्ञानियों के समान मोक्ष

लाभ शीघ्र पा जाना कर्म हीनों के लिये केवल असंभव है।

साधकों को चाहिए कि वे उचित कर्मों का आश्रय न छोडें क्योंकि जब तक सिद्धों जैसा अनुभव प्राप्त नहीं, तब तक कर्मों को छोडना व्यर्थ है। कर्महीनों को निष्कामता कहाँ तक प्राप्त होगी इसमें संदेह ही है। अतएव जो उचित कर्म है उसे करते ही रहना आवश्यक है। प्रसंग से ही उचित कर्मों का पता चलता है और उनका आरंभ, हमारे प्रसंगों के लिए उचित होने से, वे एक प्रकार की निष्कामता प्राप्त कराते हैं। अपनी योग्यता बढाने की दृष्टि से उचित कर्म जहाँ तक हो सके निष्कामतापूर्वक करना चाहिए। ४५.

> कीं प्राप्तकर्म सांडिजें। येतुलेनि निष्कर्म होईजे।
> हे अर्जुना वायां बोलिजे। मूर्खपणें ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! प्राप्त कर्मों को छोडने पर नैष्कर्म्य की सिद्धी होगी ही नहीं। इस प्रकार कहना केवल मूर्खता है।

हे प्यारे अर्जुन ! इस प्रकार का यदि आचरण न होगा तो निष्कामता का प्राप्त होना पूर्णतया कठिन है। केवल प्राप्त कर्मों को छोडकर कोई भी निष्कामता पा नहीं सकता। वह ऐक्य भाव केवल बुद्धि के द्वारा जानने से कोई लाभ नहीं है। जब तक अनुष्ठान नहीं होता, तब तक यह सब व्यर्थ है। विचार को आचरण पर आधारित होना चाहिए। तब ही "योग" संभव है। 'योग' इस शब्द का उच्चारण मात्र कभी लाभकारी नहीं होगा। यदि प्रसंग से उसकी चेतना जीवन में

होती रहेगी तो वह निःसंदेह प्रभावकारी होगा। उस 'पुरुष' को एक प्रकार का पौरुष देगा। तात्पर्य यह है कि व्यर्थ प्रलाप की अपेक्षा, स्थिर बुद्धि से "अक्षरों" की–अर्थात संपूर्ण अनुभूति से उस पर–तत्व की प्रतीति की–सहायता लेना ही उचित है। वहाँ कर्म का तिरस्कार नष्ट होगा। इतनाही नहीं, कर्म रहेगा ही नहीं। वही परमात्मतत्त्व, व्यक्ति व्यक्ति में भिन्न भिन्न स्वरूपों में दिखाई देता है। उसकाही यह वैभव विलास है, और उसने अपने को–निराकार को–सावयव, साकार करके, इस विश्व रूप में प्रस्थापित किया है। जो यह जानने वाला 'योगी' है, उसका कर्म स्वयं नष्ट होता है। वहाँ 'कर्म' शब्दही नहीं रहता। ४६.

(सिद्धि समधिगच्छति)
सांगे पैल तिरां जावें। ऐसें व्यसन का जेथ पावे।
तेथे नावेतें त्यजावें। घडे केवि ॥ ४७ ॥

नौका को छोडने पर, उस पार जाने का संकट कैसे दूर होगा ? नौका का त्याग असंभव है।

उस पार जाना है। यही एक बडा संकट है कि किस प्रकार कर्म से बंधे हुए परतंत्रता में डूबे हुए, नित्ययज्ञ से अनभिज्ञ तथा भ्रांत हम उस पार जायेंगे। कृपानिधि का कारुण्य ही एक मात्र आधार। ऐसी अवस्था में क्या हम नाव को छोड देंगे ? जहाँ भवसागर पार होने की इच्छा है, वहाँ कर्म के बिना कोई उपाय नहीं। वह एक प्रकार का व्यसन ही बन बैठा है। इस संकट को हटाने के लिए वहाँ की क्रियाशक्ति तथा आधार की आवश्यकता मानों हमारी नाव बनी है। इस लिये यह

आवश्यक ही है कि जब तक पार नहीं होते, तब तक नाव छोडना पूर्णतया अनुचित है । ४७.

(अश्नुते)

ना तरी तृप्ती इच्छिजे । तरी कैसेनि पाक न किजे ।
कीं सिद्धहि न सेविजें । केवि सांगे ॥ ४८ ॥

क्षुधा की तृप्ति या तो रसोई पकाने पर शक्य है या सिद्ध रसोई का सेवन करने पर ही ।

क्षुधा की तृप्ति के लिए भोजन बनाना ही चाहिए। उसके बिना तृप्ति असंभव है । यों हम कह सकते हैं कि हम रसोई न पकायेंगे, किन्तु जो तय्यार पकवान है उसका सेवन करना अत्यन्त आवश्यक है । तैयार पकवान का सेवन हम क्यों न करें ? क्षुधा की तृप्ति भोजन के बिना कैसे हो सकती है ? भोजन तय्यार करना पडे या न पडे यह महत्वकी बात नहीं, महत्व इस बातका है कि हम ऐसा पकवान बनाते हैं या तैयार पकवान का सेवन करते हैं या नहीं । इस संबंध में कोई भी हमारी सहायता नहीं कर सकता । हमें चाहिए कि हम स्वयं प्रयत्नशील रहें और प्राप्त या अप्राप्त-सिद्ध या असिद्ध (तय्यार या तय्यार किया जानेवाला) भोजन के द्वारा अपनी भूख को शान्त करें । जब तक प्यास बुझाने के लिए उस अमृत की एक बूंद नहीं मिलती, तब तक प्यासा तडपता ही रहेगा । उसकी प्यास न बुझेगी । यह प्यास जीवन को बेचैन कर देती है और अंतर्मुखी होकर तीव्रता से उसे पूर्ण व्याकुल बनाती है । तब उसकी सहेली बनकर मानों उसे सुख देने के ही लिए तृप्ति

वहाँ पहुंचती है क्यों कि प्यास को तृप्ति की इच्छा इतनी पागल बनाती है कि उसकी यह तीव्रता तृप्ति को घसीट लाती है। वहाँ तृप्ति स्वयं अपने रहस्यसे परिचित कराती है। इस "जीवभाव" का यथार्थ दर्शन वहाँ होता है। अंतःकरण की व्याप्ति और समानता एकरूप बनती हैं। सहज स्थिर तथा एकात्म अंतःकरण में तृप्ति का निवास होता है। यथार्थ दर्शन से ही तृप्ति का प्रासाद सजाया जाता है।

अतः इसके प्राप्त होने के लिये हे प्यारे पार्थ, जिसे निष्काम पद को प्राप्त करने की इच्छा है, उसका कर्तव्य है कि सहज प्राप्त तथा उचित कर्मको किसी भी परिस्थितिमें स्वीकार करे यह नितांत आवश्यक है। कर्म इस प्रकार करें कि वह सद्धर्म बन जाए। वह कर्म सत्कर्म बने। उसे त्याज्य समझने की आवश्यकता नहीं। उसे यथार्थ रूप से ग्रहण करें। अपनी ही इच्छा के अनुरूप जो कर्तव्य है, उसका आचरण सर्वथा इष्ट ही है। कभी ऐसा भी होना संभव है, कि प्राप्त कर्म अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं होता। तो भी वहाँ किसी प्रकार की उदासीनता नहीं चाहिए। उसे स्वीकार करना ही चाहिए। किसी भी प्रकार इच्छा की अधीनता में न रहकर, सहज प्राप्त कर्मों को स्वीकारना उचित है। क्योंकि उसे छोड देने में कुछ लाभ नहीं। प्राप्त कर्मों को निरपेक्षता से हमें करना चाहिए। यदि हम उन्हें उनकी ही इच्छासे अर्थात् उनका दास्य स्वीकार करके करेंगें, तो उससे कर्म त्याग वा निष्कामता असंभव है। निष्काम होने के लिए उसका सहज होना आवश्यक है। सहजता में

स्थिरता तथा निरपेक्षता है। अतः जो प्राप्त कर्तव्य है, वह सहज बने और वह बिना बुलाये उपस्थित हो उसे सहेज करके, सत्कर्म बनाकर ही स्वीकार करें। वह सद्धर्म, सत्कर्म तथा सुकाम बने। यह ठीक ठीक जानना चाहिए। प्रसंग तथा कर्मों को यथार्थरूप से देखने से ही, इसका मर्म समझमें आयेगा। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर ही उसका सामर्थ्य दिखाई देगा। ४८.

जंव निरार्तता नाहीं। तंव व्यापार असे पाहीं।
मग संतुष्टेचा ठाईं। खुंटे सहजें ॥ ४९ ॥

जब तक इच्छाका राहित्य नहीं है, तब तक कर्म नहीं छोडे जाते। जब आर्तता नष्ट होती है तब कर्म अनायास नष्ट होंगे।

जब तक मन में आर्ति, आसक्ति तथा इच्छा है, तब तक जीवन संबंधी व्यापार चलते ही रहेंगे। यह जीवन की आसक्ति तथा प्रकृतिजन्य आर्ति कर्म कराने को विवश बनाती है। जब यह आर्ति नष्ट होती है, तब कर्म सहज ही नष्ट होते हैं। आत्मतृप्त आत्म–संतुष्ट तथा आत्म–काम साधक कर्मों से पूर्णतया अलग रहता है। जब तक यह देह है, और उसकी धारणा द्वारा प्रकृति भी विद्यमान है, तब तक योग्य तथा अयोग्य बातों का निर्णय होना कठिन है। क्योंकि प्रकृति का अपना सूत्र है। उसके गुणों का व्यापार भी उसके ही द्वारा नियंत्रित किया जाता है। अपने ही विधान से प्रकृति जीवन की गति–विधि को प्रकाशित करती चलती है। अतः उसका व्यापार देहधारियों के लिये–अर्थात् अतृप्त तथा आर्त व्यक्तियों के लिए सहज है। ४९.

(नैष्कर्म्य पुरुषः)

म्हणोनि आईकें पार्था । जया नैष्कर्म्यपदीं आस्था ।
तया उचित कर्म सर्वथा । त्याज्य नोहे ।। ५० ।।

हे पार्थ ! यह स्पष्ट है कि जिसे नैष्कर्म्य लाभ की इच्छा है उसे विहित कर्मों का त्याग सर्वथा उचित नहीं ।

अतः हे पार्थ–जो निष्काम अवस्था की इच्छा रखता है, उसे आवश्यक है कि जो प्राप्त विहित कर्म है, उसे (कर्म को) स्वीकार करें । जो प्राप्त कर्म हैं वह प्रकृति का, व्यक्ति के लिए एक विधान मात्र है । वह पूर्णतया सहज तथा आवश्यक है । सहज कर्म करने का अर्थ है प्रकृति का विधान स्वीकार करना । उसकी सहज स्थिति जानकर कर्मों को सहजता से, जहाँ तक हो सके निष्काम होकर करना चाहिए । उन्हें त्याग देने से लाभ नहीं । ५०.

(न च संन्यसनादेव)

आणि आपलिये चाडे । आपादिले हें भिडें ।
कीं त्यजिलें कर्म सांडे । ऐसे आहे ।। ५१ ।।

हम स्वेच्छा से किसी भी कर्म का स्वीकार या त्याग नहीं कर सकते । वस्तुतः कर्म-त्याग असंभव है । कर्म ही स्वयं अपने आप फल रूप होता है ।

जब कर्म सहज प्राप्त होता है, और विहित भी होता है तब क्या हम उसे स्वीकार न करें ? उनका आचरण विधियुक्त होने से उन्हें कुशलता से करने में ही हम उनका विधान सफल बनाते हैं । हम क्या अपनी इच्छासे कर्मों को स्वीकार करनेसे वे

स्वीकृत होते हैं ? या अपनी इच्छा से त्याग करने से उनका त्याग संभव है ? किसी भी प्रकार देखने से यह स्पष्ट है कि स्वीकृति या त्याग ये दोनों बातें कर्म ही बनती हैं । अपनी इच्छा केवल उनकी सहजता को नष्ट करती है । अतः इच्छारहित निष्कामवृत्ति का निर्माण ही कर्मों का बंधन नष्ट कर सकता है, हमारी इंद्रियाँ हमें कर्मों में प्रवृत्त करने में निःसंशय प्रबल है, अतः कर्म त्याग या स्वीकार दोनों भी अपनी इच्छा के आधीन नहीं । ५१.

हें वायांचि सैरा बोलिजे । उकल तरी देखी पाहिजे ।
परि त्यजितां कर्म न त्यजे । निभ्रांत मानी ॥ ५२ ॥

कर्म त्याग की बात बिलकुल व्यर्थ तथा भ्रामक है । ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट है कि छोडने पर भी कर्म छोडा नहीं जाता ।

अतः यह निश्चित है कि कर्म छोडने की बात व्यर्थ है । क्योंकि जैसे जैसे हम उस संबंध में विचार करने लगते हैं, वैसे वैसे हमें यह स्पष्ट होता है कि कर्म-त्याग सुगम नहीं । प्रकृति की सहजता से प्रवृत्त होने के कारण हरेक व्यक्ति को कर्म करना आवश्यक है, किसी भी प्रकार का कर्म त्याग का प्रयत्न असफल होता है । यह बात निश्चित मान लो । ५२.

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोई भी व्यक्ति अेक क्षण भी कर्म के बिना नहीं रह सकता । प्रकृति-जन्य गुणों से हरेक व्यक्ति परतन्त्र है । प्रकृति

के गुण सबको कर्म में रत करते हैं ।। ५ ।।

(प्रकृतिजैर्गुणैः)

जव प्रकृतीचें अधिष्ठान । तंव सांडी मांडी हें अज्ञान ।
जे चेष्टा ते गुणाधीन । आपैसि असे ।। ५३ ।।

जब तक प्रकृति का आश्रय है, तब तक त्याग अथवा ग्रहण दोनों अज्ञान ही हैं । जो कर्म होते हैं वे प्रकृति के गुणों के अधीन होकर स्वभावतः रहते हैं ।

जब तक प्रकृति का अधिष्ठान है तब तक त्याग अथवा ग्रहण ये दोनों बातें अज्ञान हैं । क्योंकि प्रकृति के गुणों के द्वारा ही ये कर्म प्रवृत्त होते हैं । व्यक्ति को कर्मोंमें प्रवृत्त किया जाता है। गुणों का ही यह व्यापार रहता है और वह रहेगा ही । अतः जो स्वाभाविक है उसे छोडने की बात किस काम की ? ५३.

(कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः)

देखें विहित कर्म जेतुलें । तें सगळें जऱ्ही वोसंडिलें ।
तरी स्वभाव काय निमाले । इंद्रियांचे ।। ५४ ।।

विहित कर्मों का त्याग करने से क्या इंद्रियों की प्रवृत्तियाँ नष्ट होंगी ?

मान लो कि हमने विहित कर्म भी छोडे हैं, किसी भी प्रकार का कर्म नहीं करते । क्या यह संभव है कि हमारी इंद्रियाँ स्थिर रहेंगी ? इंद्रियों का ही शरीर है । उनके व्यापार तो निःसंशय चलते रहेंगे । इंद्रियों का स्वभाव कैसे नष्ट होगा ? वे अपना अपना व्यापार वैसे ही करती रहेंगी । उनकी तृप्ति

कैसे संभव है ? क्योंकि प्रकृति उनका अधिष्ठान है। गुणों का आधार है जो सहजतासे इंद्रियों को प्रवृत्त करता है। ५४.

सांगे श्रवणीं आइकावें ठेलें। कीं नेत्राचें तेज गेलें।
हें नासारंध्र बुझालें। परिमळ नेघे ॥ ५५ ॥

क्या कान नहीं सुनेंगे ? क्या नेत्रों का तेज नष्ट होगा ? क्या नासिकारंध्र मुँद जायेगा ? या नासिका परिमल नहीं अनुभव करेगी ?

अन्य कर्मों को त्यागने से क्या कान सुनना छोडेंगे ? क्या नेत्रों की दीप्ति नष्ट होगी ? नेत्र देखना भूल जायेंगे ? क्या नाक साँस लेना बंद करेगी ? यह संभव नही है। जब तक इंद्रियों में चेतना है और उनके विषय उपस्थित हैं, तब तक वे अपना कार्य करते रहेंगी। यह कर्म तो देह-धारियों से होंगे ही। ५५

ना तरी प्राणापानगती। कां निर्विकल्प जालीसे मती।
कीं क्षुधातृषादि आर्ति। खुंटलिया ॥ ५६ ॥

प्राण तथा अपानादिकी गति समाप्त नहीं होती, मनबुद्धि संकल्प–विकल्प रहित नहीं हो सकते। क्षुधा, तृषा जरा आदि सभी कर्म विकार रहते ही हैं।

अतः कर्म रहित रहना कभी उचित नहीं है। क्यों कि प्राणापानादि वायु की गति तो नष्ट न होगी, और बुद्धि का विकल्प भी नष्ट न होगा। क्षुधा, तृषा आदि की तृप्ति भी संभव नहीं। वास्तव में इनके सहज व्यापार जीवात्मा को कुछ तृप्त

अवश्य करते हैं। इसलिए यह जीवात्मा के सहज धर्म हैं। हमारी निर्व्यापारता उसको संतोष प्राप्त कराने में असफल रहेगी। इंद्रियों तथा सहज प्राप्त कर्मों के द्वारा अेक प्रकार से जीवात्मा की पूजा होती है। अेक प्रकार की वह अर्चना है। उसको संतुष्ट अवश्य ही करेगा। अतः निर्व्यापार रहना उचित नहीं। देह-धारण के कारण उसकी अवस्था चेतना तथा ज्ञान आदि बातें सदाके लिये रहेंगी। उनके ही द्वारा यह जीवित सेवा होती है। अपने कर्मों से ही यह जीवात्मा सतुष्ट होता है। अतः उनका त्याग सर्वथा अज्ञान मात्र है। ५६.

हे स्वप्नावबोध ठेले। कीं चरण चालों विसरले।
हें असो काई निमाले। जन्ममृत्यु ॥ ५७ ॥

क्या स्वप्न या जागृति नहीं रहेंगी ? क्या चरण नहीं चल सकेंगे ? या आदि तथा अंत (जन्म-मृत्यु) होगा ही नहीं ?

जब तक शरीर है तब तक शरीर के व्यापार अवश्य होते रहेंगे। स्वप्न, सुषुप्ति या जागृति आदि तीनों प्रकार की अवस्थायें देह धारियों के लिए आवश्यक हैं। चेतना के रहने तक पैर चलना नहीं छोडेंगे। इस जीवन में इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्म होते ही रहेंगे, किन्तु उनके द्वारा मानो अेक प्रकार जीवन की सेवा ही चलती रही है। कुछ काल के लिये हम यह भी स्वीकार करेंगे कि हम निर्व्यापार रहेंगे। किन्तु इससे आदि (जन्म) और अंत (मृत्यु) रोकने से थोडे ही रुकेंगे ? जन्म तथा मृत्यु अपनी ही शक्ति से, हमें गतिमान करते रहेंगे। अतः चैतन्य तथा सार्थक व्यापारों से जीवन का उपचार तथा प्रयोग

किस प्रकार किया जाय, यह देखना ही महत्वपूर्ण है। किसी भी प्रकार निर्व्यापार न रह सकते हैं और न ही यह उचित है। यदि हम निर्व्यापार रहेंगे तो इस मनुष्य जन्म का ध्येय ही हम भूल जायेंगे अतएव कर्मों को न छोडकर उन्हें सहज बनाने का प्रयत्न करना उचित है। ५७.

हे न ठाकेचि जन्ही कांहीं। तरी सांडिलें येथ तें कायी।
म्हणोनि कर्म त्याग नाहीं। प्रकृतिमंतां ॥ ५८ ॥

अगर ऐसा नहीं हो सकता तो फिर किसका त्याग हुआ? वस्तुतः प्रकृति के अधीन रहकर कर्म त्याग कदापि नहीं हो सकता।

देह धारण के लिये आवश्यक कर्म तथा व्यापार होते रहेंगे। उन व्यापारों के द्वारा प्रकृति मानो पुरुष की पूजा कर रही है। वह उसे प्रसन्न करने के प्रयत्न में लगी है। जब तक देह धारण समता की स्थिति में है, तब तक उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। उसकी प्रसन्नता बनी रहे, इसके लिये यह शारीरिक तथा मानसिक व्यापार प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं। यह स्वभावतः ही होते हैं। अतः वहाँ हम क्या त्याग सकते हैं? क्यों कि जो प्रकृति से युक्त हैं, उनके लिए कर्म त्याग कदापि संभव नहीं। वहाँ प्रकृती के कारण किसी भी प्रकार कर्म-त्याग होता ही नहीं। ५८.

कर्म पराधीनपणें। निपजतसे प्रकृतिगुणें।
येरीं धरी मोकलीं अंतःकरणें। बाहिजे वायां ॥ ५९ ॥

प्रकृति के गुणों के ही कारण कर्म का आविष्कार होता है

अतः कर्म स्वभावतः पराधीन है । कर्म का त्याग तथा स्वीकार अंत:करण से असंभव है । मन का यह संकल्प व्यर्थ है ।

किसी भी प्रकार का कर्म हो, वास्तव में प्रकृति के गुणों द्वारा प्रवृत्त होता है । उसके विसर्जन के साथ ही, वह भी विलीन होता है । अतः हम अपने अंत:करण में अभिमान कैसे कर सकते हैं कि मैंने यह कर्म किया और वह कर्म छोड दिया । वस्तुतः त्याग तथा स्वीकार या अन्य किसी भी प्रकारकी हलचल या इस जीवन की गति उस महामाया प्रकृति में ही स्थित है। हमारा अंत:करण सर्वथा उसके अधीन है । अंत:करण परतन्त्र है । हमें स्वतन्त्र होने के लिये कर्तव्य ही करना पडेगा । कर्मों के द्वारा ही इस जीवन की महान साधना सिद्ध हो सकती है । इस परतन्त्र अंत:करण को अपनाने का यही एक मार्ग है । जहाँ जो योग्य तथा उचित है वहाँ उसी को प्रधानता देनी चाहिए । ५९.

देखें रथीं आरुढीजे । मग जरी निश्चळ बैसिजे ।
तरी चंचळ होउनी हिंडिजे । परतंत्रा ।। ६० ।।

देखो, किसी रथ पर आरूढ होकर यदि हम स्थिर बैठे तो भी हम घूमते फिरते रहेंगे ही । रथ के अधीन होने से रथ के चलने से हमें भी चलना पडता है ।

किसी रथपर आरूढ होकर हम निश्चल नहीं रह सकते। रथ की गति ही हमें अबाध रूपसे चलाती है। हमारे इस शरीर रूपी रथ पर हम आरूढ हैं । हमारी इंद्रियाँ घोडों के समान हैं । इन्हें संयत करके हमें चाहिए कि इस रथ का नियंत्रण करें।

उसे ठीक रास्ते पर चलायें। वहाँ आवश्यक उपचार तथा कर्म निश्चित करें। यदि हम किसी प्रकार का यत्न तथा उपचार न करेंगे तो वह रथ इन्द्रियों का ही बन जायेगा। हम निश्चित ही परतन्त्र रहेंगे। किसी भी प्रकार हमारा निष्कर्म रहना उचित नहीं है। हमारी परतन्त्रता हमें विनाश की ओर ले जायेगी। ऐसी निश्चलता वास्तव में चंचलता ही होगी। क्योंकि शरीर निश्चल है और मन चंचल है। वह परतंत्र है। वह अपनी चंचलता के कारण जीवन का रास्ताही खो बैठता है। ६०.

कीं उचललें वायुवशें। चळे शुष्क पत्र जैसे।
निचेष्ट आकाशें। परिभ्रमे ॥ ६१ ॥

वायु के अधीन होकर जिस प्रकार शुष्क पत्ता आकाश में स्वैर तथा निराधार घूमता रहता है। यदि वह स्थिरसा दीखता है।

मन विवश होकर भ्रम में भटकता रहेगा। उसका आपा नष्ट होगा। जिससे वह अपनी सहज स्थिति को छोड बिलकुल मूढ होकर भटकता रहेगा। जिस प्रकार तूफान में फंसा हुआ तिनका अपना अस्तित्व खोकर झोंको में घूमता रहता है। उसका शुष्क जीवन किसी प्रकार की स्थिरता को प्राप्त नहीं करता, वैसेही निश्चेष्ट रहने का तेरा यह प्रयत्न, हे प्यारे अर्जुन–स्थिर नहीं होसकता। तिनके का निराधार उडते रहना जिस प्रकार व्यर्थ है वैसे ही तेरा जीवन भी व्यर्थ है। चंचलता को स्वीकार करने के कारण करणीय कर्मों की स्थिरता तूने त्याग दी है और अपने जीवन की गति संपूर्ण रूपसे इंद्रियों के ही हाथ में

सौंपने के लिये तू तैयार है । ६१.

(न हीत्यर्ध)

तैसें प्रकृतिआधारें । कर्मेंद्रियविकारें ।
निष्कर्मही व्यापारें । निरंतर ॥ ६२ ॥

प्रकृति का आश्रय, कर्मेंद्रियों के विकार आदि कारणों से, नैष्कर्म्य सिद्धी जिसे प्राप्त है वह भी कर्म त्याग नहीं कर सकता ।

करणीय कर्मों का यथाविधि आचरण करने से प्रकृति के द्वारा पुरुष का पूजन होता है । उस पूजन अर्चन से वह प्रसन्न होता है । हम निश्चेष्ट रहकर अर्थात यह मानकर कि मेंने कर्मत्याग दिया है, वास्तव में एक प्रकार की भूल ही करते हैं क्यों कि करणीय कर्मों के आचरण में जिस प्रकार वह प्रकृति ही आधारभूत है उस प्रकार जब हम कर्मों को त्यागते हैं और इस देह रथ को इंद्रियों के ही अधीन कर बैठते हैं तब भी प्रकृति ही आधारभूत रहती है । इंद्रियाँ वास्तव में प्रकृतिजन्य हैं । वहाँ हलचल मची रहेगी । कर्म रहेगा । किसी भी हालत में निष्काम कर्म के द्वारा भी कर्मत्याग प्रकृति के कारण संभव नहीं होता । देहादि व्यापार पहले जैसे ही होते रहते हैं । निरंतर कर्मों का व्यापार चलता ही रहता है । यह प्रकृति का अधिष्ठान उसे संचालित करता रहेगा । ६२.

म्हणोनि संग जो प्रकृतीचा । तंव त्याग न घडे कर्माचा ।
ऐसयाही करूं म्हणती तयांचा । आग्रहोचि उरे ॥६३॥

देह की उपाधि जब तक है तब तक कर्म त्याग संभव नही । तिस पर भी यदि वैसा करना कोई चाहता है तो वह

केवल दुराग्रह है। हठ है।

जब तक प्रकृति का आधिष्ठान देह-रूप से विद्यमान है तब तक कर्मों का त्याग असंभव ही है। कर्म और प्रकृति इन दोनों का अटल संयोग है। जब तक प्रकृति विलीन नहीं होती तब तक कर्म अनिवार्य है। अतएव प्रकृति की अधिष्ठानता में कर्मों को त्यागने की बात सर्वथा व्यर्थ है। इस पर भी तू हे प्यारे अर्जुन, कर्म त्याग करना चाहता है तो यह तेरा दुराग्रह ही है। यह एक प्रकार का हठ ही है। ६३.

कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

कर्मेंद्रियों को संयमित करके जो मन से विषयों का चिंतन करता है वह निःसंशय मूढबुद्धि है। वह मिथ्याचारी पाखंडी है॥ ६ ॥

(कर्मेंद्रियाणि संयम्य)
जे उचित कर्म सांडिती। मग नैष्कर्म्य हो पाहती।
परी कर्मेंद्रियप्रवृत्ती। निरोधुनी ॥ ६४ ॥

जो उचित कर्मों को छोडकर नैष्कर्म्य चाहते हैं और साथ ही कर्मेंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाते हैं।

इस जीवन में जो प्रसंग-निर्माण होते हैं और उनके अनुसार जो उचित कर्म किये जाने आवश्यक हैं उन्हें छोडना योग्य नहीं। कुछ लोग जरूर ऐसे हैं कि विहितकर्मों को छोडते हैं और चाहते हैं कि निष्कर्म रहें। यह निष्कर्मता विहित कर्मों

को त्यागने से नहीं मिलती। ऐसे कर्म हम छोड सकते हैं, किन्तु वहाँ उस कर्म के बारे में जो इंद्रियों की प्रवृत्ति है, वह सहज होने के कारण नष्ट नहीं होती। कर्मेंद्रियाँ बाहरी रूप से स्थिर हैं किन्तु आन्तरिक रूप से वे प्रवृत्त ही होती हैं। मन उन्हें कर्तव्य की ओर खींचने के लिये प्रयत्न करता है। इस प्रकार वहाँ निःस्तब्धता बाहरी है आन्तरिक नहीं। वहां कर्मनिवृत्ति नहीं किन्तु कर्म प्रवृत्ति हो सकती है। ६४.

(य आस्ते मनसा स्मरन्)
तयां कर्म त्याग न घडे। जें कर्तव्य मनीं सांपडे।
(मिथ्याचारः स उच्यते)
वरी नटती तें कुडें। दरिद्र जाण ॥ ६५ ॥

उन से कर्म त्याग तो होता ही नहीं किन्तु उनके मन में कर्म की प्रेरणा (कर्तव्य) बनी रहती है। तिसपर भी जो नैष्कर्म्य का दावा करते हैं वे वस्तुतः दुर्बल वृत्ति के दरिद्र हैं।

इस अवस्था में कर्म निवृत्ति कदापि नहीं क्योंकि उनका मन कर्म में प्रवृत्त है और विषयों का चिन्तन करता है। वह इन्द्रियों की प्रवृत्ति को विषय की ओर खींचता है। उसका प्रयास असफल भी क्यों न हो, किन्तु उसका कर्म प्रेरक होनेके नाते कर्म त्याग की बात तो दूर ही रहती है। जब तक देह स्वयं कर्म–प्रवृत्त नही होता तब तक वह अपने को मानों इन्द्रियों के अधीन करती है। यह एक मानसिक दुर्बलताही है। विषयों का चिन्तन करनेवाले ये मूढ बाह्य रूपसे कर्म त्याग का ढोंग क्यों दिखाते हैं? ऐसे ये कर्मत्यागहीन दरिद्र होते हैं। ६५.

(इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा)
ऐसे ते पार्था । विषयासक्त सर्वथा ।
वोळखावे तत्त्वतां । भ्रान्ति नाहीं ॥ ६६ ॥

ऐसे लोग, हे पार्थ, सर्वथा विषयासक्त हैं। यहां किसी भी प्रकार का संशय नहीं।

इस प्रकार कर्म त्याग का ढोंग दिखाने से क्या सत्य छिपता है ? उन्हें वास्तव में सत्य की इच्छाही नहीं। वास्तव में विषयों में आसक्त हुए, ये विषय सेवन करते हैं। इस लिये सचेत होकर ऐसे लोगों से दूर रहना चाहिए। हे पार्थ, अपनी बुद्धि द्वारा इस संबंध में बिलकुल सचेत होना चाहिए। बुद्धि को स्थिर करके, भ्रम, विपर्यास आदि से बिलकुल दूर रहकर कर्म की इस गहन गति को समझ ले। इसे तत्वतः सूक्ष रूप से जान ले। किसी भी प्रकार की भ्रान्ति न हो। ६६.

आतां देई अवधान । प्रसंगें तुज सांगेन ।
या नैराश्याचें चिन्ह । धनुर्धरा ॥ ६७ ॥

हे धनुर्धर ! ध्यान से सुनो। सहज ही प्रसंगोपात्त नैराश्य का लक्षण, तुझे बता रहा हूं।

कर्म की यह गहन गति समझ लेना परम आवश्यक है। यह परम कल्याण की बात होने के कारण तू हे प्यारे धनुर्धर, सावधान होकर सुन ले। प्रसंग से ही यह कहना प्रारम्भ हुआ है। प्रसंग ही के द्वारा जीवन को जानना पडता है। वास्तव में जिस निराशा से तू व्याप्त है उसका विवेचन उचित है। यह

निराशा, एक प्रकार का अवसाद या विलक्षण आपत्ति है। उसकी चिकित्सा परमावश्यक ही नहीं अनिवार्य है । यह समझने के लिये उस कर्मयोगी का ही रूप अंकित करना उचित है। उदासीन वृत्ति की विशेषता स्पष्ट अवगत होने के लिये कर्मयोगी को ही देखना चाहिए। क्यों कि सच्ची उदासीनता ही निष्कामता है । ६७.

हे धनुर्धर, अब ध्यान से सुन । इस प्रसंग के कारण मैं उदासीनता का लक्षण करता हूँ ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।। ७ ।।

किन्तु हे अर्जुन, शुद्ध मन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों को संयमित करके, जो अनासक्त कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग प्रारम्भ करता है। वही इस विश्व में विशेषत्व रखता है ।। ७ ।।

(यस्त्विति)
जो अंतरीं दृढ । परमात्मस्वरूपीं गूढ ।
बाह्य तरी रूढ । लौकिक जैसा ।। ६८ ।।

जो अंत:करण से दृढ है, परमात्मस्वरूप में लीन है और जो बाह्यत: लोक मर्यादा का पालन करनेवाला है –

जो अन्त:करण में स्थिर, निश्चल तथा अविचल है, किसी भी परिस्थिति में जहाँ दुविधा संभव नहीं, जो परमात्मस्वरूप में पूर्णतया विलीन होकर उसमें ही समा गया है, वह योगी बाह्य रूप से लोकमर्यादा के ही अनुसार बर्ताव करता है । मानो

लोकमर्यादा उसके लिये परमप्रिय है। जिस प्रकार सर्वसाधारण व्यक्ति, लौकिक आचार विचारों को आस्था से ग्रहण करता है, उससे भी कहीं अधिक आत्मीयता उसके द्वारा दिखाई जाती है। ६८.

तो इंद्रियां आज्ञा न करी। विषयांचें भय न धरी।
प्राप्त कर्म नाव्हेरी। उचित जें जें ॥ ६९ ॥

वह इंद्रियों को आज्ञा नहीं देता, विषयों का भय नहीं मानता, जो प्राप्त कर्म है उसका सत्कारपूर्वक आचार करता है।

वह इंद्रियों को कभी आज्ञा नहीं देता कि तुम इस प्रकार बर्ताव करो। उनकी क्षुधा को उत्तेजित नहीं करता या उत्तेजित उर्मियों को दबाता भी नहीं। वह उन्हें किसी भी प्रकार महत्व ही नहीं देता। जब मनुष्य देह का महत्व जाना जाता है तब इंद्रियों का व्यापार ही उसे अनुकूल रहेगा। इंद्रियों में यह क्षमता नहीं कि वे 'पुरुष' का अर्थ समझ लें। प्राप्त प्रसंग पर की गयी आज्ञा क्या 'पुरुष' के लिए अर्थयुक्त होगी? "इंद्रिय" पुरुषहित नहीं करते। केवल देह धारणा के कारणही यह इंद्रियों का संधान 'पुरुष' का साथ देता है। उनके अपने पृथक् विषय होते हैं। उनका स्वभाव अपने कार्य में आत्मा को घसीट लेता है। वहाँ गुण ही गुणों से संयुक्त होते हैं। इनका यह संबंध स्पष्ट होनेपर ठीक ठीक ज्ञान होनेपर ही इंद्रियों की आधारभूत प्रकृति पुरुष के साथ सामंजस्य स्थापित करती है। वह अपने को या उसे अपना 'अर्थ' बताती है। पुरुष ही प्रकृति का रूप देखता है या वह अपने ही रूप में प्रकृति की लीला को जान

लेता है। प्रकृति का स्वभाव पुरुष में ही परिपूर्ण बनता है। इस विलीनता में पुरुष का ही विलास विकसित होता है। उसका दर्शन उसे आनंद विभोर करता है। उस अक्षर का ही स्वभाव सिद्ध हो जाता है। अतः ऐसी अवस्था में विषयों का डर असंभव है। जो प्राप्त कर्म उचित हैं, उनका सत्कार ही किया जाता है। यथाविधि उनका आचार बन सकता है। ६९.

(कर्मेंद्रियैः कर्मयोगम्)
तो कर्मेंद्रिये कर्मी। राहटत तरी नियमी।
परी तेथिचेनि ऊर्मी। झांकळेना ॥ ७० ॥

कर्मेन्द्रियों को अपने कर्मों में प्रवृत्त होते समय, वह कभी उन कर्मों में आसक्त नही रहता या उनके सुख दुःख के आवेग से विचलित नहीं होता।

इंद्रियों के अर्थ प्रसंग से प्राप्त होने पर, उन्हें अनुकूल चित्तवृत्ति अपने मन में पैदा होती है। मन और इंद्रियों का जो सहज संबंध है उससे मन के विरोध में इद्रियों का भी संयम न होना सहज है। किन्तु इंद्रियों की सबलता, विषयों की तीव्र आसक्ति मन को अपनी ओर घसीट लेती है। ऐसी खिचातानी में आंतरिक संघर्ष की संभावना है। इस लिए वह योगी कर्मेन्द्रियोंकी प्रवृत्ति को कर्मों में ही प्रयुक्त करके प्रमुदित होने का अवसर देता है, जिससे मन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। उसकी बुद्धि तीव्रता से विकल नहीं होती। कर्मेंद्रियों के द्वारा कर्म किए जाते हैं। उन्हें संयमित नहीं किया जाता। उन्हें अपना काम दिया जाता है जिसमें वे स्वयं तृप्त होते हैं और इससे

उसकी बुद्धि किसी भी प्रकार विकृत नहीं होती। इच्छा की समता वहाँ असंभव है। ७०.

(असक्तः)

तो कामनामात्रें न घेपे। मोहमळें न लिंपे।
जैसे जळीं जळें न सिंपे। पद्मपत्र ॥ ७१ ॥

कामना से उसका मन मलीन नहीं होता। मोह से वह आवृत्त नहीं रहता। कमलपत्र पानी में रह कर भी भीगता नहीं, गीला नहीं होता।

किसी भी प्रकार का दबाव उसपर प्रभाव नहीं कर सकता। वह अपने में निश्चल रहता है जिससे वासनायें उस पर प्रभुत्व नहीं जमा सकती। वासना, विकार आदि बातों से वह विवश नहीं बन सकता। उसकी बुद्धि की स्थिरता (स्थिर-बुद्धि याने पुरुष लक्षण) वासनाओं का निर्वासिन करती है। देहाभिमान, मोह, व्यामोह इनका भी वह आदी नहीं होता। वह बिलकुल निर्मल रहता है। जिस प्रकार कमल पत्रपर पानी की बूंद चिपकी नही रहती, उसी प्रकार वह भी अलिप्त रहता है। कमलपत्र निर्लेपता का चिन्ह है। पानी में रहकर भी वह भीगता नहीं। निर्लेप तथा निर्मोही जीवन का वह प्रतीक, कर्मयोगी के रूप में साकार होता है। देह को धारण करते हुए भी देह के विकार, विषय उसे छूते नहीं। ७१.

तैसा संसर्गामाजी असे। सकळां सारिखा दिसे।
जैसें तोयसंगें आभासे। भानुबिंब ॥ ७२ ॥

वह तो संसर्ग में रहता है। सभी के समान ही वह दीखता

है। किन्तु पानी में दिखाई देनेवाले सूर्य के प्रतिबिंब के समान ही उसकी अलिप्तता है।

वह योगी लोगों के संसर्ग में जरूर रहता है। उनके जैसाही बर्ताव करता है। मानो वह भी एक संसारिक भाव ही हो। किन्तु वह आभास मात्र है। वास्तव में वह बिलकुल अलिप्त है। जिस प्रकार सूर्य मण्डल पानी में प्रतिबिंबित होता है किन्तु पानी में नहीं रहता उसी प्रकार वह योगी लोगों के साथ रहते हुए भी लोगों के समान किसी भी विषय में लिप्त नही रहता। उसका चित्त स्थिर होने कारण, कभी विचलित नहीं होता। ७२.

(स विशिष्यते)
तैसा सामान्यत्वें पाहिजे। तरी साधारणचि देखिजे।
येरवीं निर्धारितां नेणिज। सोय जयाचि ॥ ७३ ॥

वस्तुतः वह भी सर्व साधारण के समान ही है। उसका कुछ असामान्यत्व ऊपर से प्रतीत नहीं होता। किन्तु उसके आत्म स्थिति का निर्धारण करना सचमुच कठीन है।

वह बिलकुल सामान्य व्यक्ति के समान दिखाई देता है। उसका चलना, बोलना और अन्य बातें भी सामान्य दिखाई देती है, किन्तु जिस प्रकार वह दिखाई देता है वैसा वह नहीं होता। उसका यथार्थ दर्शन कुछ और है। जो दिखाई देता है वह आभास है। अगर हम उसके विचारों और भावों का पता चलाना चाहें तो आसानी से वह प्राप्त नहीं हो सकता। उसके भावोंकी थाह लेना बडी कठिन बात है। अपना स्वरूप स्पष्ट

करने की उसे आवश्यकता ही नहीं। उसकी चित्त वृत्ति दृढ, स्थिर और प्रशान्त होनेके कारण एक प्रकार का तेज वहाँ रहता है, उससे मानो उसकी चित्तवृत्तियाँ डरती रहती है। उस तेज के सामने वे चित्तवृत्तियाँ अचेतन बन जाती हैं। इन चित्त-वृत्तियों को छोडकर उसके दर्शन करनेका साहस हम में कहाँ है ? उसका दर्शन करना कोई सामान्य बात नहीं है। जो कहते हैं कि हमने उसे देखा है, यह कल्पना की बात है। क्या कल्पना से उसे देखा जाता है ? कोरी कल्पना करने से क्या लाभ ? उसका स्पष्ट दिग्दर्शन होना निःसंदेह कठिन है। तुम्हारी अपनी वृत्तियाँ अस्थिर हैं जिससे चित्त भी अस्थिर है। अस्थिर चित्त निराश्रित, निराधार रहता है। ऐसा चित्त क्या उसे देखने की क्षमता पा सकेगा ? ७३.

ऐशा चिन्हीं चिन्हितु। देखसी तोचि मुक्तु।
आशापाश रहितु। वोळख पां ॥ ७४ ॥

इन्हीं लक्षणों से जो युक्त है वही मुक्त है। आशापाश से वह बद्ध नहीं। उसकी पहचान कर।

योगी का चित्त पूर्णकाम है। उसे किसी भी प्रकार की इच्छा विचार, विकार, मोह, व्यामोह आदि विवश नहीं कर सकते। चित्त परिपूर्ण होकर आत्मस्वरूप में स्थित है। इस लिए पूर्णतया व्याप्त है। मानो महत् का वह महान विलास उसमें पूर्ण रूपसे प्रस्फुटित हुआ हो। उसकी व्यापकता या गहनता, महान होने से सामान्य व्यक्तिको उसका साक्षात् दर्शन संभव नहीं है क्योंकि यह चित्त दर्शन मानो आँखों को चकाचौंध करता

है। इन चिन्हों से युक्त जो व्यक्ति है, वह निःसंदेह योगी है। वही मुक्त है। युक्त और मुक्त इन दोनों की व्याख्या करने-वाला है। मतलब यह कि उसके द्वाराही इन शब्दों का स्पष्टी-करण संभव है। उसे देखनेसेही इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट होता है। मानो इन शब्दों का अर्थ उसमें साकार हुआ है। आशा और पाश उसके पास तक नहीं आते। बन्धन तथा आर्तता वह जानता ही नहीं। बन्धन में पडे हुए लोगों को उस पुरुष का यथावत् दर्शन कैसे संभव है ? उसका प्रत्येक आचार विचार विशिष्ट होता है। विलक्षण रहता है। किन्तु तुम्हारी आंखे उसकी विशेषता देखने में समर्थ नहीं होती। अतएव इन लक्षणों से उसको सावधानी से देख। जब इस प्रकार तू हे प्रिय अर्जुन, हे वत्स, देखेगा तब उसकी विशेषता और विलक्षणता समझमें आयेगी। उसका योग चिन्ह स्पष्ट होगा। उसका स्वरूप सिद्ध अनुभव प्रतीत होगा। अतएव तू हे प्यारे, इसे शुद्ध रूप से ग्रहण कर। उसका यथार्थ दर्शन कर। उसकी पहचान कर। ७४.

अर्जुना तोचि योगी। विशेषीं जो जगीं।
म्हणोनि ऐसा होय याचिलागीं। म्हणिपें तूंतें ॥७५॥

हे अर्जुन ! इस जगत में वही विशिष्ट योगी है। तुझे इस लिए कह रहा हूं कि तू भी इसी प्रकार का योगी हो।

हे अर्जुन, इस जगत में वही महान है। इस संसारमें उसका जीवन ही सफल है। वह पूर्णकाम, पूर्णतृप्त तथा अनासक्त है। इसलिए सारे संसार में उसकी श्रेष्ठता है। अतएव तुझे भी यही उपदेश है कि तू योगी बन। अपना चित्त

स्वरूप में दृढ तथा स्थिर कर। वहाँ उसे स्थिर करने के पश्चात् इंद्रियों को चाहे जहां जाने दे तुझे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहेगी। तू बिलकुल निर्लिप्त, निर्द्वन्द रहेगा। जिस प्रकार लोहकान्त से लोहा आकर्षित होता है, उसकी मर्यादा लोहे से भंग नहीं हो सकती, उसी प्रकार इंद्रियाँ योगी के चित्त की मर्यादा में रहती हैं। वे कभी उसे विचलित नहीं कर सकती। इंद्रियों का चुम्बक 'विषय' है, योगी की इन्द्रियाँ भोगसे प्रभावित नहीं होती। चित्तके संयमित होने से इंद्रियों का व्यापार उसे विचलित नहीं करता। अतएव फिर से कह रहा हूँ कि तू भी ऐसा बन। चित्तवृत्तियों को प्राधान्य देने की अपेक्षा स्थिर चित्त की ओर मुडता जा। ७५.

तूं मानसा नियम करीं। निश्चळ होई अंतरीं।
मग कर्मेन्द्रिय व्यापारीं। वर्ततू सुखें ॥ ७६ ॥

तू अपने मनको संयमित कर। अंतःकरण से निश्चल हो। कर्मेन्द्रियों को अपनी वृत्तियों के अनुसार सुख से कर्म करने दे।

अतः हे प्रिय अर्जुन, तू अपने मन को संयमित कर। अंतः करण से दृढ तथा निश्चल हो। मानस को चित्त द्वारा सुनियंत्रित कर। शुद्ध बुद्धि से नियंत्रित चित्त को इन्द्रियाँ विचलित नहीं करेंगी। कर्मेन्द्रियाँ यदि अपनी वृत्तियों के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होंगी तो भी कोई डर नहीं। उन्हें अपनी वृत्ति के अनुसार सुख से विहार करने दे। उनका असर चित्तपर नहीं होगा। ७६.

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू अपना कर्म शुद्ध बुद्धिसे नियंत्रित कर। क्यों कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म किये विना तेरा जीवन सफल नहीं होगा ॥ ८ ॥

(शरीरेति)
म्हणसी नैष्कर्म्य होआवें। तरी येथें तें न संभवे।
आणि निषिद्ध केविं राहाटावें। विचारीं पां ॥ ७७ ॥

नैष्कर्म्य प्राप्त करने का विचार (कर्म रहित होने का) यहाँ ब्रिलकुल असंभव है। फिर निषिद्ध कर्मों का आचार किस लिए ?

निष्काम होने का जो विचार तूने निश्चित किया है वह मेरी दृष्टि से असंभव ही है। वास्तव में अिस बात का विचार कर कि जिनका आचरण सर्वथा निषिद्ध है उन्हें हे प्यारे, तू क्यों करना चाहता है ? जो कर्म करना उचित है वह तो तू नहीं करता और जो कर्म करना अनुचित है उसे करने का तूने निश्चय किया है। शास्त्र दृष्टि से जो निषिद्ध है उसके करने से क्या लाभ ? ७७.

(नियतं कुरु कर्म त्वं)
म्हणोनि जें जें उचित। आणि अवसरें करूनि प्राप्त।
तें कर्म हेतुरहित। आचर तूं ॥ ७८ ॥

अतः जो उचित है और प्रसंग प्राप्त है। ऐसे कर्म का आचार किसी भी प्रकार की कामना न रखकर (निष्काम बुद्धि से) तू कर।

जब हम इस प्रकार अपने विहित कर्म को छोडते हैं, उचित कर्म करना त्यागते हैं, शास्त्र की आवश्यक निष्ठा तक छोड देते हैं तब स्वाभाविक रूप से ही बन्धन निर्माण होता है। जीवन की गति को न देखने से ही उसके अनुकूल बर्ताव के होने से तथा स्वधर्म को छोडने से अपने ही गले में संसार की रस्सी अपने ही हाथों से बांधी जाती है। इसलिये ऐसे संघर्ष मे फंसने की अपेक्षा जो उचित है, प्रसंग से प्राप्त है, उसे निष्काम होकर करनाही चाहिए। ७८.

(कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:)
पार्था आणिकही एक। नेणसी तूं हें कवतुक।
जें ऐसे कर्ममोचक। आपैसें असे ॥ ७९ ॥

हे पार्थ ! यहाँ और एक विशेष है कि जिसे तू जानता नहीं। निष्काम कर्म अपने आप कर्म मोचक होता है।

हे पार्थ हे भारत, हे प्रिय, तू विचारवान है, अतएव विचार कर। इस कर्म का और एक महत्व है। यह निष्काम कर्म स्वभावत: ही मनुष्य को मुक्त करनेवाला है। वह बन्धनकारक नहीं रहता। उसका आचरण नि:स्वार्थ होकर, निर्हेतुक होकर, उसीकी गतिविधि जानकर करनेसे मुक्ति का सोपान बनता है। ७९.

देखें अनुक्रमाधारें। स्वधर्म जो आचरे।
तो मोक्ष तेणें व्यापारें। निश्चित पावे ॥ ८० ॥

और यह देख कि परम्परा से प्राप्त (कर्मों का) स्वधर्म

का जो निष्काम होकर अनुष्ठान करता है, वह निश्चय ही मोक्ष को पाता है।

स्वधर्म जीवन का आधार है। वह सहज, उचित और विहित है। उसका आचरण यथाविधि होना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि जो इसका आचरण करता है वह मोक्ष को निश्चित रूप से पाता है। ८०.

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार ॥ ९ ॥

यज्ञार्थ किए जानेवाले कर्मों के अतिरिक्त जो दूसरे कर्म किए जाते हैं, उनसे जीव, कर्म बंध से युक्त होता है। अतः हे कौंतेय, तू (अनासक्त होकर) संगों को छोडकर कर्म कर ॥९॥

(यज्ञार्थात्कर्मणः)
स्वधर्म जो बापा। तोचि नित्य यज्ञ जाण पां।
म्हणोनि वर्ततां येथ पापा। संचार नाहीं ॥८१॥

हे अर्जुन ! स्वधर्म ही नित्य यज्ञ है। उसका अनुष्ठान करने से पाप का संचार ही नहीं होता।

हे अर्जुन ! वास्तव में स्वधर्म का पालन ही यज्ञ है। स्वधर्म के अतिरिक्त जीवन नहीं। वह नित्य है, वह महान यज्ञ है। उसका यथाविधि आचरण करने से पाप का प्रवेश कदापि सम्भव नहीं। यज्ञ की उपासना जीवन की महान साधना है। स्वधर्म का आचरण पापों पर प्रतिबन्ध लगाता है अतः उसके आचरण में स्थिरता हो। ८१.

(अन्यत्र)

हा निजधर्म जैं सांडे । कुकर्मी रति घडे ।
तैंचि बन्धन पडे । संसारिक ॥ ८२ ॥

जब स्वधर्म का अनुष्ठान ठीक नहीं होता तब बुरे कर्मों में आसक्ति पैदा होती है। उसके द्वारा ही मन संसार के बन्धन में पडता है।

स्वधर्म के आचरण में निश्चलता होनी ही चाहिए। इसे भूलना पाप है। उसके आचरण में किसी प्रकार की भूल या ढिलाई होगी तो चित्त की निश्चलता विचलित होगी। वह कुकर्म में फँस जायेगा। कुकर्मों के प्रति आसक्ति होगी। मन संसार की वासनाओं में घिर जाएगा। वासनाएँ चित्त को घेरेंगी और संसारिक बन्धनों में तुझे रहना पडेगा। इस भव–बन्धन को छुडाने की चेष्टामें ज्यों ज्यों तू प्रयास करता है, त्यों त्यों इस बातकी और भी ध्यान देना चाहिए कि चित्त स्थिरता को बनाये रखे। इस प्रकार की स्थिरता स्वधर्माचरण से प्राप्त होती है। इसलिये उसका आचरण अनुष्ठान के साथ हो। इस "यजन" को ही अनुष्ठान कहते हैं। स्वधर्म यज्ञ से बढकर कोई कर्म हितकारी नहीं। ८२.

(तदर्थमिति)

म्हणोनि स्वधर्मानुष्ठान । तें अखंड यज्ञयाजन ।
जो करी तया बंधन । कधिचि न घडे ॥ ८३ ॥

स्वधर्म का अनुष्ठान ही नित्य यज्ञ का यजन है। जो इस पर चलता है उसे कभी बन्धन नहीं घेरते।

स्वधर्म प्रकृति का स्वभाव है। उसके द्वारा जीवन की साधना सुलभ और सफल होती है। स्वधर्म का अनुष्ठान पुरुष की प्रसन्नता को बढाता है। चित्त की चंचलता का शमन करता है। इस लिए इस यज्ञ का अखण्ड यजन करने से संसार में रति नहीं होगी। जीवन की विकलता यहाँ प्रतीत नहीं होगी। अनासक्त चित्त की स्थिरता प्रसन्न भाव से जीवन का गहन मार्ग पूरा करने में सहायता दे सकती है। यहींपर अगर तुम भूल करोगे तो वासनाओं के झंझट में फँसने में देर नहीं होगी। वासनाओं की विकलता तत्काल प्रभाव डालेगी। ८३.

(लोकोऽयं कर्मबन्धनः)
हा लोक कर्मे बांधला। जो परतन्त्रा भुलला।
तो नित्ययज्ञातें चुकला। म्हणोनियां ॥ ८४ ॥

इस जगत में मानव समाज कर्म से युक्त है। कर्म की परतंत्रता उसके हेतु में है। स्वधर्म–कर्म छोडने से ही कर्म में बंधकत्व आता है।

वासनाओं की विकलता दूर करने के लिए ही समाज को कर्म से नियन्त्रित किया गया है। इस नियन्त्रण को, नियमों को तथा विधानों को ठीक ठीक समझकर उसके अनुकूल आचरण करना चाहिए। सभी जीव कर्म बन्धन से घिरे हुए हैं। इस बन्धन से मुक्त होने की हरएक की इच्छा है। बंधन से अपने को मुक्त करने का ठीक रास्ता यही है कि जीव, स्थिरता से स्वधर्माचरण करता रहे। जिसने स्वधर्म कर्मको त्याग दिया है वही कर्म बन्धन में फँस गया है। अतः यह निःसंशय परमावश्यक है कि

विहित स्वधर्माचरण करता रहे। ८४.

आतां येचिविषयीं पार्था। तुज सांगेन एकि कथा।
जे सृष्टयादि संस्था। ब्रह्मेनि केली॥ ८५॥

हे पार्थ! इस संबंध में एक कहानी मैं बताता हूं, जिससे विधाता ने इस सृष्टि की रचना कैसे की, वह समझ सकते हैं।

इस संबन्ध में हे प्यारे पार्थ, मैं तुझे एक इतिहास सुनाता हूँ। यह इतिहास वास्तव में 'कोऽहम्' का ही आविष्कार है। अपने भावों का साक्षात्कार कर लेना है। अपनी स्थिरता तथा निश्चलता की प्रतीति का मार्ग प्रशस्त करना है। अतः ध्यान से सुन। उस प्रजापति ने यह सृष्टि निर्मित की। सृष्टि के सृजन में प्रयुक्त किये गये विचार, विकार तथा भावों का सामंजस्य स्पष्ट करना उचित है। इस निर्मिति में उपायों का भी प्रयोग हुआ है। इसे स्पष्ट समझ लेने से नित्य यज्ञ की विशेषता ज्ञात होगी। ८५.

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

बहुत पहले (कल्पारंभ के समय) प्रजापति ब्रह्माने यज्ञों के साथ मानवी प्रजा का निर्माण करके, उनसे कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम अपना अभ्युदय करो। यह यज्ञ तुम्हारी इष्ट कामना पूर्ण करने में समर्थ है॥१०॥

(सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा)
तैं नित्य यागसहितें। सृजिलीं भूतें समस्तें ।
परीं नेणतीचि तिये यज्ञातें। सूक्ष्म म्हणोनि ।।८६।।

ब्रह्मा ने समस्त भूतों का निर्माण किया। साथ ही उनके स्वधर्म रूप नित्य यज्ञ का ही सृजन किया। स्वधर्म यज्ञ का अति गहन होने के कारण, प्राणी मात्र को उसका आकलन नहीं हो सका।

ब्रह्मदेव के द्वारा इस सृष्टि का सृजन किया गया। साथ ही साथ ब्रह्मदेव ने प्राणि मात्र के स्वधर्म का भी निर्माण किया। स्वधर्म रूपी नित्य यज्ञ की निर्मिति यद्यपि प्राणियों के साथ हुई थी तो भी वे उसे नहीं जानते थे। क्योंकि स्वधर्म अर्थात् नित्य यज्ञ अतिसूक्ष्म है। अपने हृदय में स्थित होने से, उसका स्पंदन पूर्ण रूप से जाना नहीं जाता। सूक्ष्म रूप होने से वह निश्चल ही है। उसकी सूक्ष्मता तथा नित्यता महत्व की है। ८६.

(पुरोवाच प्रजापतिः)
ते वेळीं प्रजीं विनविला ब्रह्मा ।
देवा आश्रयो काय येथ आम्हां ।
तंव तो म्हणे कमळजन्मा। भूतांप्रति ।।८७।।

सभी लोगों की ओर से कमल जन्मा ब्रह्मदेव की प्रार्थना की गई (और पूछा गया कि) "हे प्रभो यहाँ हमें क्या आधार है ?" तब ब्रह्मा जी ने कहा –

स्वधर्म सूक्ष्म होने के कारण, प्राणियों को सुलभ नहीं होता। वे निराश्रित होकर ब्रह्मदेवजी से प्रार्थना करने लगे कि हे ब्रह्मन्, यहाँ हमारा कोई आधार नहीं है। क्या हम ऐसे ही निराधार तथा निराश्रित रहेंगे ? तब ब्रह्मदेवजी ने सब भूतों से प्रसन्नता पूर्वक कहा – ८७.

(अनेन प्रसविष्यध्वं)
तुम्हां वर्णविशेषवशें। आणि हा स्वधर्म विहीत असे।
(एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्)
यातें उपासा मग आपैसे। काम पुरती ॥८८॥

हरेक वर्ण के अनुसार स्वधर्म यज्ञ का निर्माण किया गया है। वह तुम लोगों को विदित है। उसकी उपासना करने पर तुम्हारी सभी कामनाएँ सफल होंगी।

जन्म एक प्रकार से आतमा का पुनरागमन है। वास्तव मे वह न आता है न जाता है, न जन्मता है, न मरता है। इस प्रकार अवस्थारहित होनेपर भी उसका जन्म विलक्षण है। आपके रूपों में उसीका आविष्कार हुआ है। अपने आश्रय के लिए प्रकृति को स्वीकार किस प्रकार करता है, यह देखना भी महत्वपूर्ण है। इस सृजन में विशेष प्रकार का संकेत निहित है। नए जन्म के साथ ही देवत्व का पूर्ण अधिकार सुप्त रूप में विद्यमान है। प्रकृति के द्वारा नये जीवन की प्रेरणा स्वाभाविक रूपसे मिलती ही रहती है। उस प्रेरणा को, उस सत्य के संदेहों को आविष्कृत करने के लिए जो संविधान किया जाता है, उसे ठीक ठीक जानना चाहिए। उस विधान पर चलने से, अभ्युदय

का मार्ग निःसंदेह पूर्ण होगा । इस स्वधर्म का सूक्ष्म स्वरूप जानना आवश्यक है और उसका अनुशासन करना उचित है। स्वधर्म रूपी नित्य यज्ञ मानो कामधेनु के समान है । नित्यत्व के साथ स्वाभाविक शान्ति उत्पन्न होती है । तृप्ति की स्थिति ठीक ठीक समझकर उसे अपनाना अत्यावश्यक है । जब तृप्ति को ही अपना स्वभाव किया जायेगा, तब काम निर्माण ही नहीं होगा । स्वधर्म यज्ञ के अनुशासन से नित्य यज्ञ ही स्वभाव बन जाता है । उसकी स्थिरता जीवन का विवाद नष्ट कर देती है। अतः इस यज्ञ का यजन करते रहो । उससे सब कुछ प्राप्त होगा । ८८.

(अयं भावः)
तुम्हीं व्रतें नियम न करावे । शरीरातें न पीडावें ।
दूर कहिं न वंचावें । तीर्थासि गा ॥८९॥

किसी भी प्रकार का व्रत नियम शरीर पीडा या तीर्थ यात्रा आदि किसी की कुछ भी आवश्यकता नहीं ।

स्वधर्मरूप यज्ञ सूक्ष्म है । उसे समझने के लिये बार बार मुझे देखना पडता है । उसका दर्शन प्राप्त करने के लिये तीव्रता से प्रयत्न करने पडेंगे । अपने अन्तःकरण में उसका शोध आवश्यक है । जैसे जैसे हमारे प्रयत्न सूक्ष्म तथा दृढ होते जायेंगे वैसे वैसे विश्वास बढता जायेगा । हम अपने में उसे नहीं देख पाते इसलिये वह दूर है अज्ञात है । यज्ञ विधान के द्वारा, उसकी नित्यता से तृप्ति सहज सुलभ है । यही विचार तथा आचार श्रेष्ठ है । इसे छोडकर दूसरों का आश्रय लेना सर्वथा

अनुचित है। व्रत, नियम, तप तथा तीर्थाटन आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। स्वधर्माचरण सब से श्रेष्ठ है। अभ्युदयका मार्ग इस में ही है। उसे देखने की अपेक्षा दूसरे मार्गपर चलने का अर्थ परतन्त्रताही होता है। उन पराये मार्गों से अपना अभ्युदय कैसे संभव है ? ८९.

यागादिकें साधनें। साकांक्ष आराधनें।
मंत्रयंत्रविधाने। झणीं करा ॥९०॥

यज्ञ या (हठ योगादि) क्रिया सकाम उपासना मंत्र तंत्र के विधान आदि की साधना अनावश्यक है।

नित्य रूपसे स्वधर्म का यथाविधि आचरण, जीवन की महान साधना है। अपनी विशेषता के अनुरूप ही वह प्रदान किया जाता है, जिससे वह अपना बनता है, अपनाया जाता है। इसे अपनाने में जो इच्छा निर्माण होगी वह समाधानता के कारण तत्काल पूर्ण हो जायेगी। अपनी स्थिति अपनी इच्छा पर आधारित है। स्वधर्म के अनुष्ठान में अनुकूल इच्छाओं का निर्माण होगा तथा वे तृप्त भी होंगी। अतएव अपनेपन का भाव जबतक स्थिर नही होगा तब तक दूसरी आराधना करने से लाभ नहीं। आराधना, योगादि द्वारा किये जानेवाले साधन-यन्त्र, विधान, मन्त्र आदि से कुछ लाभ नहीं हो सकता। उनके द्वारा सच्चा समाधान प्राप्त नही होगा। ९०.

देवतांतरा न भजावें। जें सर्वथा कांहीं न करावें।
तुम्हीं स्वधर्मयज्ञ यजावे। अनायसें ॥ ९१ ॥

विविध देवी-देवताओं की पूजा भी निरर्थक है। तुम तो

केवल स्वधर्म यज्ञ की ही उपासना करो। सहज ही यह साधना हो।

भिन्न भिन्न देवताओं का भजन, अर्चन, पूजन आदि क्रियाओं के करने से भी कुछ लाभ नहीं क्यों कि 'भजन' का अर्थ ही उसमें प्रतीत नहीं होता। स्वधर्म यज्ञ का यजन ही भजन है। इस लिए और कुछ करने से पहले अपने मन को स्थिर करके अपने स्वभाव को ही देखना सर्वथा उचित है। अपना 'स्वभाव' देखकर उसके अनुरूप कर्मों का निष्काम आचरण होना, यह स्वधर्मयज्ञ है। स्वधर्म का आचरण तथा देखना उसका साक्षात प्रयोग करना एक प्रकार का योगही है। इसमें भोग नहीं किन्तु योग है। राग नहीं, विराग है। ग्रहण नहीं, त्याग है। ९१.

तैसा स्वधर्मरूप मखु। हाचि सेव्य तुम्हांसि एकु।
एसें सत्यलोकनायकु। म्हणता जाला ॥ ९२ ॥

पतिव्रता जिस प्रकार अपने पति की सेवामें लगी रहती है, उसी प्रकार निर्हेतुक होकर स्वधर्म यज्ञ का अनुष्ठान करो।

इसलिए तुम लोगों को अपने स्वधर्म का आचरण करना ही उचित है। यही परमाधार है। इसका आश्रय लेना परम श्रेष्ठ है। इस स्वधर्म रूपी यज्ञ का अभ्यास किया जाना चाहिए। स्वधर्म का अनुष्ठान सत्य प्रतीति का मार्ग है। सत्य की सहज प्राप्ति पुरुषार्थ प्राप्त कराती है। उसका अनुष्ठान जीवन को रहस्यसे परिचित करायेगा। यह कहना यथास्थिति स्वीकृत किया जाय तो उसका आचरण सहज भाव से संभव होगा।

अतएव सत्यलोकनाथ श्री ब्रह्माजीने यज्ञ विधान संपूर्णतया स्पष्ट करके कहा है । ९२.

अहेतुकें चित्तें । अनुष्ठा पां ययातें ।
पतिव्रता पतीतें । जयापरि ।। ९३ ।।

श्री ब्रह्माजी, सत्य लोक के अधिपति कहते हैं कि स्वधर्म यज्ञ ही सेवा करने योग्य है ।

सत्यलोक के अधिपति भगवान ब्रह्मदेव ने इसे पूर्णतया स्पष्ट किया है । स्त्री सदैव पति की अनुगामिनी है । जब धर्म स्वाभाविक होता है तब वह सहज रूप से ही अपनी विशेषता प्रतीत करता है । यद्यपि पतिपरायणता सहज धारणा तथा सर्व-सामान्य होनेपर 'पत्नी' के लिये 'पति' का अनुगमन करनाही श्रेष्ठ है । उसकी विशेषता पति के संबंधमें ही सामान्य रूप से नहीं, उसके परायण तथा अनुरागी बनने में होती है । अपने पति की मुद्राही उसके लिए पातिव्रत का अधार है और पति भी उसकी इच्छा को तृप्त करता है । पतिव्रता धर्म की विशेषता पति के संबंध में है यही ध्यान में रखने की बात है । इस प्रकार सभी प्रकार के धर्म होने पर भी स्वधर्म का अनुसरण महत्वपूर्ण है । स्वधर्म स्वपति के समान सफलता देता है । इसलिए भिन्न भिन्न देवताओं का अनुष्ठान मत करो। निष्काम होकर आचरण करना ही उचित है । इसका अनुष्ठान ही परम कल्याण प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होगा । ९३.

देखा स्वधर्मातें भजाल । तरी कामधेनु हा होईल ।
मग प्रजा हो न संडील । तुमतें कदा ।।९४।।

तुम लोग अवश्य ध्यान में रखो कि स्वधर्म की उपासना कामधेनु के समान सफलता देगी। वह कदापि तुम्हें निराधार नहीं होने देगी।

इसलिए तुम लोग स्वधर्म का अनुसरण करते जाओ। वह तुम्हारे लिये कामधेनु के समान होगा। तुम्हारी वासनाएं वांच्छायें, विकार, भाव तथा विचार पूर्ण तृप्त ही होते जायेंगे। जीवन की सफलता पग पग पर दिखाई देगी। स्वधर्माचरण का संदेश अनुशासित होने से सभी मनोरथ सफल होंगे। ९४.

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इस यज्ञ के द्वारा तुम देवों को–देव भगवान को संतोष प्रदान करोगे और वे भी तुम्हें सन्तोष देंगे। इस प्रकार एक दूसरे को सन्तोष देने वाले तुम परम कल्याण प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

(देवानिति)

जे येणेंकरूनि समस्तां। परितोष होईल देवतां।
मग ते तुम्हां ईप्सितां। अर्थातें देती ॥ ९५ ॥

इस स्वधर्म यज्ञ के द्वारा सभी देवताओं को संतोष होगा। वे तुम्हारी मनोकामनाएँ पूर्ण करेंगें।

इस स्वधर्म के द्वारा सभी देवताओं तथा देवियों को परितोष होगा। स्वधर्म रूपी यज्ञ उनको सन्तुष्ट कर सकेगा। यज्ञ विधान के कारण उनको संतोष होगा। वे सहज रूपसे ही

तुम्हारी मनोकामनाएँ पूर्ण करेंगे। मनोकामनायें पूर्ण होने के कारण आत्मा को भी प्रसन्नता होगी। उससे जन्म का उद्देश्य स्वधर्माचरण द्वारा सिद्ध होता जायेगा। और स्वभावत: सभी कर्म सफल होंगे पुरुषार्थ सिद्ध होंगे। मोक्षरूपी संपदा जो 'पुरुष' का वास्तविक अर्थ है और जो जीवन का महान लक्ष्य भी है, वह स्वधर्माचरण के कारण सहज प्राप्त होगा। सभी प्रकार के अर्थ उस अर्थ के कारण सार्थक हैं। उस अर्थ की प्राप्ति में सभी अर्थ प्राप्त होंगे। ९५.

या स्वधर्मपूजा पूजितां। देवतागणां समस्तां।
योगक्षेम निश्चिता। करिती तुमचा ॥ ९६ ॥

स्वधर्म की पूजा से देवता गणों की उपासना होने पर वे तुम्हारा योग क्षेम निश्चित ही करेंगे। (अप्राप्य आत्म वस्तु की प्राप्ति योग है और उसकी रक्षा क्षेम वे दोनों सुख से प्राप्त होंगे।)

स्वधर्माचरण स्वत:सिद्ध साधन है। उसका अनुष्ठान स्वयं गतिमान है। इससे उसका अनुसरण करने से जीवन का उद्देश्य सहज ही प्रकट होगा। उसके संकेत पर चलने से किसी प्रकार की चिन्ता करने का कारण नहीं रहता। वह पूर्ण समर्थ है। अपना योग सफल हो इस लिये भी हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती। केवल लक्ष्य सामने रखकर अनुसरण करना है। समस्त देवतागण स्वयं तत्पर हैं। वे अपने उपासकों की इच्छाएँ अतृप्त नहीं रखेंगे। उनकी अधिक आराधना नहीं करनी होगी। आवश्यक मार्गदर्शन तथा गति देना सब कुछ

उनके द्वारा होता है। हमारा योगक्षेम वेही चलायेंगे। वे ही मार्गदर्शन करते जाएँगे और साधक सत्य के साधन में अग्रसर होता जायेगा। ९६.

(परस्परं भावयन्तः)

तुम्ही देवतांतें भजाल। देव तुम्हां तुष्टतील।
ऐसी परस्पर घडेल। प्रीति तेथ ॥ ९७ ॥

अगर तुम देवताओं की उपासना करोगे तो देवता तुम पर संतुष्ट होंगे और वहाँ इस प्रकार परस्पर प्रेम निर्माण होगा कि –

सभी प्रकार की अपेक्षाएँ आशाएँ सहज तृप्त होगी। तुम्हारी स्वधर्मसाधना स्वयं प्रभावकारी बनती जायगी। वह भी पूज्यभाव को प्राप्त होगी। स्वधर्म यज्ञ से अंतःस्थित "पुरुष" भक्तिमान बनता जाएगा। वह अपने में ही स्थिर होता जायेगा। जिससे उसको पुरुषत्व का बोध होगा। अपने ही स्वरूप से सक्षम होने की दृढता उसमें आयेगी। स्वतः कल्याणमय होकर एक प्रकार की भक्ति की रसमयता तथा सरस रचनाधारा उसके द्वारा बहायी जायेगी। उसकी एकात्मता देवताओं की भक्ति में भजन में पूर्णता लायेगी। इस प्रकार पूर्णता से युक्त भक्ति होने से एक दूसरे को आवश्यक तुष्टि तथा संतोष होगा वह देवताभाव को प्राप्त होगा। वहाँ की 'प्रीति' परितुष्ट करनेवाली तथा पुरुष के अर्थों को सिद्ध करनेवाली ही होती है। इस प्रकार तुम्हारा इष्ट देव तुम्हारा प्रिय करेगा तथा तुम्हारी भक्ति देवतागण को संतोष देगी।

एक दूसरेसे जो यह प्रीतियुक्त, स्नेहमय सम्बन्ध स्थित होगा वह परम कल्याणकारी होगा। एक दूसरे के प्रेम भावना में जीवन का उन्मेष तथा आनंद सहज रूप से प्राप्त होगा। ९७.

(श्रेयः परमवाप्स्यथ)
तेथ तुम्ही जें करूं म्हणाल। तें आपैसी सिद्धी जाईल।
वांछितही पुरेल। मानसीचें ॥ ९८ ॥

जो जो कुछ करने की इच्छा होगी वह अनायास ही सफल होगी। सभी प्रकार की मानसिक इच्छाओं की पूर्ति होगी।

यह परस्पर भावना परस्पर सहायकारी बनती है। एक दूसरे की स्थिति, वृत्ति तथा अर्थ इनकी पुष्टि ही होती जायगी। यहाँ अर्थ और उसका आविष्कार गुणों की पूर्णता का द्योतक रहेगा। जो चाहे तुम माँग सकते हो। वह तुम्हें प्राप्त भी होगा। मन की इच्छायें तृप्त होंगी। ९८.

वाचासिद्धी पावाल। आज्ञापक होआल।
म्हणिये तुम्हां मागतील। महाऋद्धि ॥ ९९ ॥

तुम जो कुछ कहते जाओगे वह तत्काल ही प्राप्त होगा। सत्ता प्राप्त होगी और महान् ऋद्धि-सिद्धि तुम्हारी सेवा करेंगी।

तुम जो कहते जाओगे वही सिद्ध हो जायगा। वही सत्य होगा। देवताओं की प्रसन्नता तुम्हारे शब्दों को व्यर्थ नहीं बनायेगी। प्रभुता तथा परितुष्टि दोनों साथ रहेंगे, महाऋद्धि तुम्हारे घर में हाथ जोड कर खडी रहेगी। तुम्हारे यज्ञ से जो सहज स्वधर्माचरण है उसके लिए आवश्यक वृत्तियों का उद्यम

तथा उनका परितोष इसके द्वारा ही मानो होता जायेगा। तुष्टि तथा पुष्टि येही मानो धर्म की सिद्धियाँ हैं। उसके द्वारा अगला मार्ग आलोकित होगा। कल्याणमयी भावनाओं से जीवन की उषा मुसकुराती हुई आलिंगन करेगी। ९९.

जैसे ऋतुपतीचें द्वार। वनश्री निरंतर।
वोळगे फळभार। लावण्येसीं ॥ १०० ॥

ऋतुराज वसंत के प्रारंभ में ही जिस प्रकार वनश्री लावण्य से युक्त रहती है, फल भार से समृद्ध रहती है –

स्वधर्मरूपी यज्ञ जीवन की प्रसन्नता बढानेवाला तथा उसकी स्थिरता में वृद्धि करनेवाला है। संतोष, समृद्धि तथा वैभव स्वभावतः ही वहाँ उपस्थित रहते हैं। इस यज्ञ के भजन का मन्त्रघोष कोयल की मधुर वाणी के समान शीतलता प्रदान करने वाला होता है। हरी हरी कोंपलों से जीवन की उमंगों को बढानेवाले वसंतागमन का स्वागत कितनी उत्कटता से होता है। उसके आनेकी आहट सुनते ही वन वैभव मुखरित हो उठता है। लता वेलियों के कोमल कुसुम सुगंध से प्रभावित करते हैं। वृक्षों की गरिमा सुहासित छाया से अपने उल्हास को प्रस्फुटित करती हैं। लटकते हुए फलों के बोझ से विनम्र वे भूजात परिपूर्ण जीवन का पावन दृश्य सामने उपस्थित करते हैं। इस कल्याणकारी सुषमा की, सौंदर्य की अभिवृद्धि जीवन में नित्य नूतनता का परिचय कराती हैं। वसन्त के साथ जीवन फूलता फलता है। उसके द्वारपर जिस प्रकार अप्रतिम सौन्दर्य मुखरित होता है, उसी प्रकार स्वधर्म यज्ञ के पूज्य प्रभाव से

जीवन भी फलता फूलता जाता है। जीवन की अभिवृद्धि समृद्धि तुष्टि, प्राप्ति, सब कुछ इसके अनुशासन में उपस्थित हो जाते हैं।

जीवन के विविध भावों, विकारों तथा विचारों का परम उत्कर्ष यज्ञों के द्वारा सिद्ध होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि गुणों की परितुष्टि इंद्रियों की प्रसन्नता बढाती है। जीवन का प्रासाद इस यज्ञ के द्वारा प्रसादपूर्ण तथा विषादरहित बनता है। जीवभाव का महत्व वहां सफल होकर विशुद्ध प्रेम के मिलन में तृप्ति बनाये रखता है। उन देवताओं का प्रसन्न पावन वरदहस्त ही इस घटना का आधार रहता है। इनके मार्ग-दर्शन का स्थायी अवलम्ब करके जीवन की इस प्रसन्न लावण्य की प्रेरणा विकसित होती है। यहां का सौंदर्य न केवल सुन्दर रहता हैं वरन् कल्याणमय भी है। यों कह सकते हैं कि कल्याण ही स्वयं साकार होकर यहाँ उपस्थित होता है। जीवन की रसमयता की अधिष्ठात्री, कल्याणमयी सरस्वती अपनी दीप्ति से जीवन में उजाला फैलाती है। उसके रूप गौरव, अभिनव वाग्विलास तथा कलाचातुर्य आदि की सहज सेवा मनोरंजन कर सकती हैं। उस सहज सौंदर्य के साक्षात्कार में ईश्वरनिष्ठा की प्रतीति भी होती है। ईश्वर प्रेम का प्रस्फुरण इस अपूर्व, विलोभनीय अवस्था के साथ ही साथ होता है। प्रेम की वह दिव्य सरिता जीवन के विकारी भावों का सिंचन करती है। जिससे वे सहज ही शान्तिदायक बनते हैं। जीवन को उस मूलाधार प्रकृति की करुणा में प्रतिष्ठित करके जो

देखता है, उसके अंतःकरण में विविध रसों का प्रशमन ही होता है। वहां मन की प्रतीति जो विलक्षण प्रतीत होगी उसका आधार या उसकी प्राण-प्रतिष्ठा प्रकृति है। प्रकृति का वह लुभावना रूप आँखों को तृप्त करता जायगा। शब्द रहस्य को मूर्तिमान करेगा। सर्वार्थकारक "वाक्य" ही वहाँ अधिष्ठित है। शब्द ही मानों रूपवान हुआ हो। एक प्रकार का दर्शन ही वहाँ प्राप्त है (उपस्थित है)। सुमधुर ध्वनि मृदंगवादन है। इस प्रकार वैभवश्री से पूर्ण जीवन की प्रतिभा का नवनवोन्मेष स्वधर्म यज्ञ की पूजा में साकार होता जायेगा।.........

.........मनुष्य सर्वथा अपने को गिनता (आपना मूल्यांकन करता) जाता है। अपने में ही मग्न रहकर वह अपने को वृद्धिगत करता है। उसकी अहंतुष्टि तथा "पुष्टि" ही उसे भाती है। इस रूप में भी उस चैतन्य का निवास निःसन्देह मंगल हेतु के लिए है। उस परम मंगल हेतु की अभ्यर्थना में वह मग्न कहाँ है? "पुरुष" के निवास का गृह कितने प्रेम से परिपुष्ट किया जाता है। देहसुख की धारणा जीवन का सर्वस्व बनती है। वास्तव में आत्मा के कारण ही गृह की स्थिति है। यद्यपि उसका उत्कट प्रेम देहपर होता है तब भी वह बिशाल नहीं। मन की विशालता भी वहाँ नहीं है। किन्तु जब निसर्ग का परम रमणीय दृश्य उसकी आँखों को लुभाता है तभी उसे अपने महत् की कल्पना आती है। "महत्" का स्वभावधर्म जो अब तक संकुचित रहा है वह विकसित होने लगता है। वह स्वयं अपनी अपूर्णता का अपने विकारों का

सम्यक् अवलोकन करता है और उन त्रुटियों की कमी दूर करता है।.........

वास्तव में यह प्रकृति दर्शन, निसर्ग दर्शन, बाहरी रूप से नहीं किन्तु आन्तरिक रूप से होना चाहिए। जीवन का आंतरिक प्रवाह अवलोकित होना चाहिए। जब प्रकृति दर्शन, स्वधर्म दर्शन होगा तभी यह महती साधना सम्भव होगी। स्वभाव दर्शन से स्वधर्म की सहजता स्पष्ट होगी। और इसकी सफलता में महत् का अद्भुत विकास सुख से होता है। सृष्टि का सामंजस्य तथा प्रभाव जीवन में पग पग पर अनुभूत होता है। वहाँ संकुचित तरंगों के कारण मन के भावों का स्वाभाविक प्रसरण प्रारम्भ होता है। विशाल जीवन की अनुभूति तथा विशाल विश्व का मांगल्य जीवन को सफल बनाता जाता है। मांगल्य, मधुरिमा, सुकोमलता, तथा औदार्य आदि स्वाभाविक भावनाओं का उदात्तीकरण होता है। वे विभावों की ओर मुडते हैं।

— जीवन रसके इन भिन्न भिन्न भाव विभावों को उदात्त करके उनकी अनुभूति का साक्षात्कार किया जाता है। भाव-विभावों का अधिष्ठान मन है। वह स्वयं ही उदात्त होता है। मन का प्रतीक चन्द्रमा है। उसे भगवान शंकर ने अपने मस्तक पर धारण किया है। और चन्द्रमा की प्रतिष्ठा तथा श्रेष्ठता सिद्ध की है। मन की प्रतिष्ठा छवि रूप के अधिष्ठान में ही बढानी चाहिए। निरहंकारी, प्रलयंकर किन्तु कल्याणकर शंकर हीं चन्द्रमा की प्रतिष्ठा बढाते हैं। क्षमताशील व्यक्ति इस

तपस्या की प्राप्ति अवश्य करें। जीवन का यह उच्च स्तर "शिव" साधना पर ही अवलम्बित है और यह शिवत्व स्वधर्म यज्ञ का यजन है।.........

स्वधर्म ही छवि है, कल्याण है। उसकी साधना सबसे श्रेष्ठ है। उसकी सफलता में जीवन की सहज सिद्धी होती है। "वसन्त" का आगमन ही वनश्री का वैभव है। वह वसन्त के मन्दिर में रहता है। उसके आगमन की राह देखना आवश्यक नहीं। जहाँ वह है, वहाँ वन वैभव अवश्य होगा। उसके मन्दिर में वनश्री मानों सौंदर्य के साथ सेवा करने को सिद्ध है। वसन्त के आगमन के साथ ही वन वैभव अपनी प्रफुल्लता प्रगट करता है। वह सौंदर्य वन का सौंदर्य है या वसन्त का? वसन्त जो ऋतुराज है वही मानो इस सौंदर्य के रूप में साकार हुआ है। उसका सौंदर्य पूर्ण है। जीवन का पूर्णत्व उस ऋतुराज के साथ उपस्थित होता है। १००.

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट किये गये देवतागण तुम्हें इष्ट तथा भोग्य वस्तुएँ देंगे। देवताओं को उन्हें समर्पित किये बिना जो उपभोग लेता है वह चोर ही है॥ १२॥

(इष्टानिति)

तैसें सर्व सुखेंसहित। दैवचि मूर्तिमंत।
येईल देखा काढत। तुम्हांपाठीं॥ १॥

उसी प्रकार सकल सुखों के साथ साक्षात् सौभाग्य ही

तुम्हें ढूंढता हुआ तुम्हारे पीछे पीछे आयेगा ।

इस प्रकार सभी सुखों के साथ मूर्तिमंत दैव ही मानो तुम्हें ढूंढता हुआ पीछे आयेगा । तुम महान भाग्यशाली बनोगे। सभी प्रकार के सुख, तृप्ति, पुष्टि आदि सब कुछ तुम्हें प्राप्त होगा । जीवन की संपत्ति, ऐश्वर्य तथा उपभोग तुम्हारे सामने हाथ जोडकर खडे होंगे । इस यज्ञ का यही रहस्य है कि उसका अनुष्ठान देवताओं को प्रसन्न करता है । १०१.

ऐसे समस्त भोगभरित । होआल तुम्ही अनार्त ।
जरी स्वधर्मकर्मी रत । वर्ताल बापा ।। २ ।।

तुम सुखी होगे । तुम्हारी इच्छाएं सफल होंगी । यदि तुम स्वधर्म में रहोगे तो इच्छा रहित, दुःख रहित होगे ।

इसलिए परमप्रिय अर्जुन, स्वधर्म का सेवन सर्वथा आवश्यक तथा उचित है । उसका आचरण सत्कार तथा आदर के साथ होना चाहिए । उसमें एक प्रकार का विशुद्ध रति-प्रेम पैदा होना चाहिए । स्वधर्माचरण से ही सर्व प्रकार के भोग विशुद्ध होकर प्राप्त होंगे । इनसे मनमें बेचैनी नहीं आयेगी । इच्छा तृप्ति के कारण तुम्हारा मन शांत होगा । सच्ची स्थिरता आयेगी । १०२.

(तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो)
कीं जालया सकळ संपदा । जो अनुसरेल इंद्रियमदा ।
लुब्ध होउनियां स्वादा । विषयाचिया ।। ३ ।।

सभी प्रकार की संपदाएं प्राप्त होने पर जो विषयों के

अस्वाद से लुब्ध होकर, इन्द्रियों के मद के अधीन रहेगा -

सभी प्रकार की संपदाएँ प्राप्त होने पर उनका उपभोग निष्काम बुद्धि से किया जाना चाहिए। अपने मन को स्थिर करके ही उनका उपयोग करना चाहिए। किसी प्रकार मन को इंद्रियों के आधीन नहीं करना चाहिए, क्यों कि इंद्रियां विषयोन्मुख हैं। उनका विषयों के साथ अटल सम्बन्ध है। इन्द्रियों के अनुसार बर्ताव करने के लिए अगर मन को एकबार भी अवसर मिलेगा तो यह सब कुछ नष्ट हो जायेगा।

जिस प्रकार हिरन (मृग) नादलुब्ध होकर अपना सर्वस्व गँवा बैठता है, विषय की लालसा में वह अपना जीवन खो बैठता है, उसी प्रकार इंद्रियों की प्रबल आसक्ति को विषय बनाकर तुम अपने जीवन को नष्ट मत करो। स्वधर्म रूपी चिंतामणि को छोडकर विषय लालसा में तडपते रहने से कोई लाभ नहीं। अतः विषय-सेवन को मर्यादित ही रखो। विषय मन पर नित्य प्रभाव डालने में व्यस्त रहते है। अतः अपनी संयमशक्ति बढाकर उनसे दूर रहने की चेष्टा करो। संयमपूर्ण रीति से स्वधर्म द्वारा प्राप्त विषयों का सेवन अहंभाव छोडकर करना चाहिए। इससे हमारा अहंभाव लुप्त होता जायेगा। विषयों का षडयन्त्र आसानी से नष्ट होगा। स्वभाव का सहजत्व स्थिर रहेगा। स्वधर्म यज्ञ का भजन सुचारु रूपसे होगा। १०३.

तिहीं यज्ञभाविकीं सुरीं। जे हे संपत्ति दिधली पुरी।
तयां स्वमार्गी सर्वेश्वरीं। न भजेल जो ॥ ४ ॥

यज्ञ से संतुष्ट देवताओं द्वारा विपुल संपत्ति प्राप्त होती

है। यदि स्वधर्म मार्ग पर परमेश्वर की उपासना करते हुए उस संपत्ति का समुचित विनियोग जिसके द्वारा न होगा –

अनासक्त होकर स्वधर्म द्वारा प्राप्त विषयों का सेवन करने से यह सहज सिद्ध होगा। तुम इस यज्ञ के द्वारा प्रसन्न हुए देवताओं से प्राप्त पूर्ण सम्पत्ति का व्यय ईश्वर की साधना में न करोगे तो महा अनर्थ होगा। यज्ञभाव रूपी जो देव हैं, वे वास्तव में अपने देह में स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता के कारण जो विलक्षण स्थिरता आयेगी वही पूर्ण सम्पदा है। उसका प्रयोग करने के लिए योग्य जगह है, सर्वेश्वर की प्राप्ति का मार्ग। वह है स्वधर्मरत होना। स्वधर्म का निष्काम अनुष्ठान ही नितान्त आवश्यक है। निष्कामता के साथ तथा निर्हेतुक वृत्ति से स्वधर्मरत होना ही सर्वेश्वर की ओर जाने का मार्ग है। उसकी ओर मुडना जरूरी है। १०४.

अग्निमुखीं हवन। न करील देवतापूजन।
प्राप्त वेळे भोजन। ब्राह्मणाचें ॥ ५ ॥

अग्नि में आहुति देना; देवता पूजन, यथा काल ब्राह्मण भोजन जो नहीं करेगा –

अग्नि में आहुति देना, देवताओं का पूजन करके उनकी प्रसन्नता बढाना तथा समय समय पर ब्राह्मणों को भोजन देकर तृप्त करना आवश्यक है। वास्तव में इस बात को दूसरे रूप में भी कहा जा सकता है। हमारा मुख ही अग्नि है। अग्नि के तेज के समान ही उसकी दीप्ति उसकी क्षुधा शमन करनेवाले हमारे हाथ हैं। वे ही मानो आहुतियाँ देते हैं। उनकी आहुतियों के

द्वारा अन्तःस्थ देवताओं का पूजन होता है। वहाँ भावों की प्रतिष्ठा के साथ निर्लेपता से यह भोजन आवश्यक है। "ब्राह्मण" होकर ही, पवित्र वृत्ति से भोजन किया जाना उचित है। भोजन कर्म भी एक प्रकार का धर्म ही है। जो देवताओं की प्रसन्नता बढाता है। १०५.

विमुख होईल गुरुभक्ती। आदर न करील अतिथी।
संतोष नेदील ज्ञाती। आपलीयें ॥ ६ ॥

जो गुरु भक्ति से विमुख होगा, अतिथि का आदर नहीं करेगा, अपने कुल बांधवों को संतुष्ट नहीं करेगा –

श्री गुरु भक्ति का अर्थ है स्वधर्मनिष्ठा। अपने कुल तथा धर्म के अनुरूप आचारों का यथाविधि सेवन करना उचित है इससे ही श्रीगुरु को सन्तोष मिलता है। भाग्यवश जो स्वधर्म प्राप्त है, प्रकृति के द्वारा जिनकी ओर संकेत किया गया है, वे आचार तथा विचार यथाविधि स्वीकृत होने चाहिए। अतिथि तो भगवान का प्रतीक ही माना जाता है। उसका आदर करना चाहिए। १०६.

(यो भुङ्क्ते)
ऐसा स्वधर्म क्रियारहितु। आथिलेपणें गर्वितु।
केवळ भोगासक्तु। होईल जो ॥ ७ ॥

इस प्रकार जो स्वधर्म क्रिया से रहित, संपत्ति से गर्विष्ट तथा केवल विषयासक्त रहेगा –

उपर्युक्त आचरण के बारे में जो संकेत किए गए हैं वे

नितांत आवश्यक हैं। उनकी यथाविधि साधना होने से ही वे स्थिर होते हैं। किन्तु जब कभी साधक उन्मत्त होकर स्वधर्मक्रियाओं को त्यागता है, धनवान होने के कारण उन्हें तुच्छ समझता है, और केवल भोगासक्त होकर रहता है वह सब कुछ गँवाता है। स्वधर्म यज्ञ के द्वारा जिन जिन वस्तुओं की इच्छा होती है उन्हें साधक शीघ्र पाता है। इससे ही उसकी सम्पन्नता बढती है और मन भी बलवान बनता जाता है। रुचिवैचित्र्य के ही कारण वह भिन्न भिन्न वस्तुओं की कामना करता रहता है। जब तक निर्लेपभाव साथ है, तब तक कुछ बनता बिगडता नहीं किन्तु सम्पन्नता का भाव स्थिर नहीं रहने देता और शनैः शनैः साधक की निर्लेपता जाती रहती है और अनजाने वह भोगासक्त बनता है। भोगासक्त होने के कारण उसकी स्वधर्म निष्ठा चली जाती है। १०७.

(स्तेन एव सः)
तया मग अपाय थोर आहे। जेणें तें सकळ हातिचें जाये।
देखा प्राप्तिहि न लाहे। भोग भोगूं ॥ ८ ॥

उसे बहुत ही बडा अनर्थ प्राप्त होगा। जो कुछ उसने पाया था वह सब कुछ विनष्ट होगा। प्राप्त ही अलभ्य होगा। भोग भी असंभव रहेगा।

जब साधक उन्मत्त होकर स्वधर्मयज्ञ का यजन करना छोड देता है, केवल भोगासक्त बनकर रहता है, तब उसे बहुत दुःख प्राप्त होता है। उसके साधन में विघ्न पडता है। उसकी ओर ठीक ध्यान न देने के कारण ही आगे चलकर वह उन्मत्त

जैसा बर्ताव करता है। वास्तव में वहाँ की प्राप्ति अन्तस्थ देवताओं की प्रसन्नता का परिणाम है। उनकी प्रसन्नता के कारण सब कुछ प्राप्त होता है। वह स्वधर्म को छोडकर कैसे सम्भव है? इच्छाओं के पीछे दौडते रहने से क्या लाभ? स्वस्थ होकर ही उनकी ओर देखना चाहिए। उन्मत्त होने की अपेक्षा सौजन्य होना चाहिए। सौजन्य तथा सौम्य वृत्ति छोडनी नहीं चाहिए। वास्तव में यह सौम्यवृत्ति एक प्रकार का ईश्वरनमन है। अतएव उन्मत्त होना उचित नहीं। स्वभावस्थित सौम्यता स्वधर्मयज्ञ का फल है। उस सौम्यता में ही एक प्रकार का सामर्थ्य है। वह सामर्थ्य स्वभाव के अनुरूप प्रगट होता है। जब स्वधर्म छूटता है तब भोगासक्त साधक सब कुछ नष्ट कर देता है। जो प्राप्त भोग हैं उनका सेवन असम्भव होता है। १०८.

जैसें गतायुष्य शरीरीं। चैतन्य वास न करी।
कां निदैवांच्या घरी। लक्ष्मी जैसी ॥ ९ ॥

मृतावस्था में शरीर में प्राण या चैतन्य नहीं रहता या जिस प्रकार अभागी के घर लक्ष्मी नहीं ठहरती –

जब केवल भोग की वृत्ति रहती है, तो भोग रोग की ओर घसीट लेते हैं। हम यों कह सकते हैं कि उस अवस्था में भोग ही रोग है। वे कष्टसाध्य है। सहजसाध्य नहीं। उनका लक्ष्य केवल यही रहता है। जिस तरह मृतावस्था मे शरीर की चेतना नष्ट होती है, वैसे ही तुम्हारे शरीर के विषयमें होगा। देह की चेतना के शिथिल होने में अर्थ नहीं, अनर्थ है। वहाँ सहनशील होकर स्वभाव का नित्यत्व स्थिर करके तथा शांत

रहकर अपने को स्थिर करना चाहिए। अभागे व्यक्ति के पास संपत्ति नहीं हो सकती। लक्ष्मी उससे कोसों दूर रहती है। स्वधर्महीन व्यक्ति स्वत्वहीन बनता है। जीवन में वह कुछ भी नहीं पाता। असफल जीवन का अभिशाप उसको सहना पड़ता है। १०९.

तैसा स्वधर्म जो लोपला। तरी सर्व सुखाचा थारा मोडला।
जैसा दीपासवें हरपला। प्रकाश जाये ॥ १० ॥

स्वधर्म का लोप होने पर सुखों का आधार ही नहीं रहता। जैसे दीपक के साथ प्रकाश भी जाता है। उसी प्रकार–

स्वधर्म के छूटने से सब सुखों का आधार नष्ट होता है। सुखों की प्रतिष्ठा देवताओं में ही है। आश्रय छूटने से वे कुछ भी नही करते। घरमें दीप है। रात का समय है, दीप बुझ जाय तो क्या होगा ? अन्धःकार फैलता है। प्रकाश दर्शन दूर रहता है। उसी प्रकार स्वधर्म के जाने से अन्तस्थ देवताओं की प्रसन्नता नष्ट होती है, वे रुष्ट होते हैं और प्राप्त सुखों को भी नष्ट करते हैं। ११०.

तैसी निजवृत्ति जेथ सांडे। तेथ स्वतंत्रते वस्ती न घडे,।
आइका प्रजाहि हो पुढें। विरंचि म्हणे ॥ ११ ॥

श्री ब्रह्माजी सब लोगों से कह रहे हैं कि जहां निज वृत्ति नष्ट हौती है, वहां स्वतंत्रता एकदम दुर्लभ है।

वैसेही देवताओं का आश्रय नष्ट होने से निजवृत्ति नष्ट होती है। वहाँ मन की प्रसन्नता, स्वतन्त्रता, महानता, विचार–

स्थैर्य आदि कैसे रह सकते हैं ? अपने स्वभाव की जडता बढ़ती है। अपने भाव ही उसे बन्धन लगते है। फिरसे नये सिरेसे हम स्वधर्म यज्ञ शुरू करेंगे तब कहीं उसकी प्राप्ति होगी। इसलिए ब्रह्मदेव ने कहा है कि, हे प्रजाजन ! जो सत्य है वही मैं कह रहा हूँ। निजवृत्ति के नष्ट होते ही, और स्वधर्म के छूटते ही मन स्वतन्त्रता से वंचित होगा। प्रकृति के नित्यत्व का बोध ही अस्वास्थ्य का कारण है। उसे बाधित करना एक प्रकार उस विश्वनिर्माता के उपदेश को ही अस्वीकार करना है। उसका उपदेश ही अक्षर है, शब्द है। जहाँ अक्षर या शब्द बाधित होता है वहाँ स्थैर्य क्यों रहेगा ? वहाँ का स्वास्थ्य भी नष्ट होगा। अतएव स्वाभाविक धर्म को कभी नहीं छोडना चाहिए। १११.

म्हणोनि स्वधर्म जो सांडील। तयातें काळ दंडील।
चोर म्हणोनि हरील। सर्वस्व त्याचें ॥ १२ ॥

अतः जो स्वधर्म छोड देगा उसे काल ही दण्ड देगा। उसे चोर समझकर उसका सर्वस्व लूटा जायेगा।

जीवन में काल का अधिकार बहुत ही महत्वपूर्ण है। वह सब कुछ अपनी मुठ्ठी में लेकर चलता है। स्वधर्महीन व्यक्ति काल के जाल में फँसता है। स्वधर्म का लोप होने से वासनाओं का उद्रेक सहज होता है। उसका परिणाम भोगना ही पडता है। वह एक प्रकार का चौर्य-कर्म ही है, क्यों कि वह उचित नहीं। अतएव काल के द्वारा दंड अनिवार्य है। स्वधर्म की हानि जीवन की हानि है। स्वधर्महीन होने से

व्यक्ति का सर्वस्व लूटा जाता है। ११२.

(अयं भाव:)

मग सकळ दोष भंवतें। गिंवसूनि घेती तयातें।
रात्रिसमयीं स्मशानातें। भूतें जैसीं ॥ १३ ॥

रात के समय श्मशान में पिशाच्च जिस प्रकार चिल्लाते फिरते हैं उसी प्रकार स्वधर्मच्युत आदमी को सकल दोष घेरा डालेंगे।

जीवन में गुणदोष सम्भाव्य हैं किन्तु उनका प्रभाव नहीं होना चाहिए। मन पर परिणाम होने से उनके भले बुरे संवेदन व्यथित करते हैं, विकल बनाते है। स्वधर्मयुक्त व्यक्ति में इन दोषों का परिहार स्वभावतः होता है। सुख दुःख साधक को व्याकुल नहीं करते। परन्तु जब स्वधर्म नष्ट होता है, तब वे व्यथिति करते हैं। वे साधक को प्रेरित करते हैं। चारों ओर से उस पर आक्रमण करते हैं। रात के समय शमशान में भूत गण जिस प्रकार चिल्लाते हैं उसी प्रकार साधक के अन्तःकरण में यह आक्रमण शुरू होता है। उनकी व्यथा से विकल हुआ वह साधक सब कुछ खो बैठता है। ११३.

तैसीं त्रिभूवनींचीं दुःखें। आणि नानाविध पातकें।
दैन्यजात जितुकें। तेथेंचि वसे ॥ १४ ॥

त्रैलोक्य का सारा दुःख नानाविध पातक और सभी प्रकार का दारिद्र्य उसके यहां रहता है।

मानों सारे भुवनों के दुःख स्वधर्महीन व्यक्ति के यहाँ

ठहरते हैं। विविध प्रकार से पाप और दुःख स्वभावतः उसके घर आने लगते हैं। पाप, दुःख तथा दैन्य स्वभावतः यहाँ एकत्रित होते हैं। जीवन की चेतना लुप्त हो जाती है। ११४.

ऐसें होय तया उन्मत्ता। मग न सुटे बापा रुदतां।
कल्पांतींहि सर्वथा। प्राणिगण हो ॥ १५ ॥

उस उन्मत्त को ऐसी कडी सजा मिलती है कि बार बार रोने पर भी उसका दुःख आजीवन दूर नहीं होता।

जिसने उन्मत्त होकर स्वधर्माचरण छोड दिया है उसे कठोर दण्ड प्राप्त होता है। वह कितना ही आक्रोश तथा रोदन करे दुःख तथा दैन्य उसका पीछा नहीं छोडते। ब्रह्मदेव के अनेक कल्प बीत जाने पर भी वह अभागा अपने ही हाथों भाग्यहीन बना रहता है। उसके लिए स्वभाव का नित्यत्व प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। ११५.

म्हणोनि निजवृत्ति न सांडावी। इंद्रियें बरळों नेदावीं।
ऐसे प्रजेतें शिकवी। चतुरानन ॥ १६ ॥

श्री ब्रह्माजी प्रजा को उपदेश दे रहे हैं कि किसी भी हालत में निजवृत्ति मत छोडो। इंद्रियों को ढील मत दो।

अतएव निजवृत्ति की उपासना सर्वथा स्वीकार्य है। उसका त्याग जीवन का नाश है। इन्द्रियों का सेवक होना मिथ्याचार है। सौम्य तथा शांत होकर ही जीवन की साधना करनी होगी। किसी भी प्रकार विकारवश होना इन्द्रियों के अधीन होना बुरी बात है। इतना ही नहीं, वह अनर्थ है। मन के स्वभाव को

समझकर यथायोग्य संयम करके स्वधर्माचरण करना महत्वपूर्ण है। इस प्रकार ब्रह्मदेव जी प्रजाजनों को समझाते हैं। ११६.

जैसें जळचरां जळ सांडे। आणि तत्क्षणीं मरण मांडे।
हा स्वधर्म तेणें पाडें। विसंबों नये ॥ १७ ॥

जलचरों का जल के बाहर होते ही मरण ही सामने रहता है। (उसी प्रकार स्वधर्म के छूटते ही) स्वधर्म को छोडना नहीं चाहिये।

सहज सौंदर्य से प्रतीत होनेवाला चित्र जिस प्रकार मनको लुभाता है, उस प्रकार स्वधर्म यज्ञ भी जीवन को स्थिर करनेवाला सहज मार्ग है। उसका अनुसरण जीवन को सफलता की ओर बढाता है। जो इससे दूर है वह पानी से अलग की हुई मछली के समान तडपता रहता है। वह मछली के समान विकल होता है। पानी को छोडकर मछली के लिए जीवन नहीं। उस प्रकार स्वधर्म के बिना जीवन की चेतना नहीं। अतएव किसी भी हालत में स्वधर्म को छोडना पाप है। इसे कदापि भूलना नहीं चाहिए। ११७.

म्हणोनि तुम्हीं समस्तीं। आपुलाला कर्म उचितीं।
निरंतर होआवें पुढतपुढती। म्हणिपत असे ॥ १८ ॥

अत: तुम लोग अपना अपना उचित कर्म जरूर करते रहो। उसमें किसी भी प्रकार का अंतर नहीं होना चाहिये।

अतएव तुम सभी लोग स्वधर्म में मग्न रहो। उसका अनुशासन स्वीकार करना ही उचित है। उसे मत छोडो। उसका

ही अभ्यास करो । इससे असाध्य साध्य होगा । प्रसन्नता प्राप्त होगी । जीवन सफल होगा । इस लिए बार बार यही कह रहा हूँ कि स्वधर्म को मत छोडो । उसका अनुष्ठान करो । केवल चिन्तन में मत रहो । ११८.

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ यागादि के द्वारा देवों को समर्पित करके जो अवशिष्ट रहता है, उसका सेवन करके सज्जन पापों से मुक्त होते हैं, परन्तु जो केवल स्वाथ बुद्धि से अन्न पकाते हैं वे पापी (अन्न नही) पाप ही खाते हैं ॥ १३ ॥

(यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो)
देखा विहित क्रियाविधी । निर्हेतुका बुद्धि ।
जो असतिये समृद्धी । विनियोग करी ॥ १९ ॥

यह ध्यान में रखो कि जो उचित कर्म निर्लिप्त बुद्धि से करता है तथा अपनी समृद्धि का विनियोग भी स्वधर्म के लिये करता है ।

निष्काम वृत्ति से किसी प्रकार की कामना न करके, बिलकुल निःस्वार्थी होकर जीवन व्यतीत किया जाय । जो साधन समृद्धि प्राप्त है, उसका विनियोग भी उचित तथा स्वधर्म के पालन के लिए ही किया जाए । साधन समृद्धि जीवन की सफलता के लिए हो, स्वधर्म सेवन के लिए ही हो । दैनंदिन तथा नैमित्तिक उचित क्रियाविधि करने के लिए समृद्धि का विनियोग हो । ११९.

गुरु गोत्र अग्नि पूजी । अवसरें भजे द्विजीं ।
नैमित्तिकादिकीं पूजी । पितरोद्देशें ॥ २० ॥

गुरु, गोत्र, अग्नि तथा द्विजों की पूजा यथाकाल करता है तथा जो पूर्वजों के हेतु नैमित्तिक कर्म करता है–

जो सांसारिक है, उसके लिए नियत कर्म आवश्यक है। देवताओं की उपासना, उपासना के लिए पूजन, अर्चनादि विधि आदि बातें जरूर करनी होंगी। श्री गुरु की उपासना जीवन की श्रेष्ठ तपश्चर्या है। प्रकृति को ही अपने वश में कर लेने में देह का सार्थक्य है। अर्थात् दर्शनादि आत्मबल से प्राप्त होता है। वह पावन गति जिससे मिलती है, उस श्रीगुरु का-महान् तत्व का-पूजन ही महत्व की बात है। मन का सयमन, उसकी निश्चलता, विकारों की प्रबलता पर आरोहण करने वाली शांति की अन्त:शक्ति आदि सब कुछ उसी के द्वारा प्राप्त होती है। अतएव परम पावन गुरुमूर्ति की उपासना आवश्यक है। जिस कुल में जन्म हुआ हो उसके गुरु की उपासना भी परम कल्याणकारी है। यथासमय ब्राह्मणों की पूजा करना भी उचित है। पितरों के उद्देश्य से पूर्वजों के लिए भी कुछ अर्चन, तर्पण आवश्यक है। अत: जो नित्य तथा नैमित्तिक महत्व के और उचित कर्म होते हैं, उनका यथाविधि सेवन करना आवश्यक है। १२०.

या यज्ञक्रिया उचिता। यज्ञेंसीं हवन करितां।
हुतशेष स्वभावता। उरे जें जें ॥ २१ ॥

इस प्रकार यज्ञ में हवन करने के बाद जो कुछ सहज ही शेष रहेगा–

उपर्युक्त प्रकार के नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का उचित आदर करनेवाला साधक शीघ्रता से सिद्धि प्राप्त करता है। वह शीघ्र स्थिरता को प्राप्त होता है। आवश्यक यज्ञ क्रिया करने से तथा आहुति देने से स्वभाव की स्थिरता होती है। यज्ञ में आहुति देने पर जो अवशिष्ट रहता है, उसका सेवन परम कल्याणकारी है। १२१.

तें सुखें आपुला घरीं। कुटुंबेसीं भोजन करी।
(मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
तें भाग्यचि निवारी। कल्मषातें ॥ २२ ॥

उसका सेवन अपने कुटुंबियों के साथ संतोष से करता है उसके सभी पातकों का नाश होता है, वह कल्याण को पाता है।

जो यज्ञावशेष बचा हुआ है, उसका अपने कुटुंब के साथ जो सुख से सेवन करता है, वह कल्याण को पाता है। वह भोग ही पाप का निवारण करनेवाला है क्यों कि यथाविधि उचित कर्मों के आचरण से काल की गतिविधि उसके ध्यान में आती है। जिससे वह सब कुछ समझ सकता है। जीवन के संघर्ष के लिए आवश्यक सहनशक्ति उसमें पैदा होती है। वह संघर्ष में न डिगता है, न संकटों से डरता है। वह अपना मार्ग सुगमता से पूर्ण करता है। पापों को दूर करके वह अबाध गति से परम लक्ष्य की ओर दौडता है। १२२

तें यज्ञावशिष्ट भोगी। म्हणोनि तो सांडिजे अघीं।
जयापरी महारोगी। अमृतसिद्धी ॥ २३ ॥

यज्ञ का अवशिष्ट सेवन करनेवाला भोगी पाप से मुक्त

रहता है । अमृतसिद्धि होने पर महारोगी भी निरोगी बन जाता है ।

यज्ञ का अवशिष्ट सेवन करने वाला साधक भोगी होकर भी त्यागी रहता है । उसके भोग कल्याणकारी होते हैं । वह किसी भी प्रकार रोगयुक्त नहीं हो सकता । सभी प्रकार के दुःख तथा कष्ट उससे दूर रहते हैं । अमृत की प्राप्ति होने पर जैसे महारोगी निरोगी बनता है उसकी व्यथा जिस प्रकार नष्ट होती है उसी प्रकार यज्ञ के अमृततुल्य अवशिष्ट का सेवन करने से सभी बाधाएं नष्ट होती हैं । १२३.

कीं तत्त्वनिष्ठ जैसा । ना गवे ना भ्रांतिलेशा ।
तो शेष भोगी तैसा । नाकळे दोषां ।। २४ ।।

जिस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ आदमी को भ्रम की बाधा नहीं होती, उसी प्रकार यज्ञावशिष्ट का सेवन करनेवाले को दोष नहीं लगता ।

दोषों से पूर्णतया निर्लिप्त रहकर साधक स्वधर्म यज्ञ के द्वारा आगे चलता है । उसकी बुद्धि स्थिर तथा सूक्ष्म होने के कारण उसके जीवन में यथार्थता पग पग पर प्रतीत होती है । बुद्धि बोध से परिपूर्ण रहने से जीवन के शाश्वत सत्य का मार्ग आलोकित होता है । किसी भी प्रकार की भ्रांति उसे नहीं भुला सकती । उसका मन प्रशांत तथा तरंगहीन होता है । उसका जीवन ही अमृतत्व के समान प्रसन्न तथा शाश्वत होता है । पदार्थ मात्र की यथार्थता स्थिरबुद्धि के कारण उसे प्रतीत होती है । जिससे उसका चित्त चंचलता से दूर रहता है । मनःप्रसाद

और वासनाक्षय होने से चंचलता अपने स्वभाव से विराम लेती है। यहाँ जो आचार होता है, वह वास्तव में महान् पार्श्वभूमि से प्रेरित तथा गहरी अनुभूति से परिपूर्ण रहता है। वह विश्व-व्याप्त प्रतिभा का प्रवर्तन ही करता है। विश्व तथा देह दोनों की गतियाँ समझकर साधक विश्व गतिमें अपने को विलीन कर लेता है। क्षुद्र दोषों से वह लिपटा नहीं रह सकता। उसके मनकी स्थिरता भवरोगों से बिलकुल दूर रहती है। इस प्रकार की प्रसन्न तथा स्थिर बुद्धि प्राप्त होने से भ्रांति, रोग, संकट आदि से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। जीवन का, विश्व गति से संबद्ध जो कर्तव्य है, उसका विहित आचरण उसके द्वारा यथाविधि होता है। स्वधर्मयज्ञ की यही श्रेष्ठता है। विश्व व्याप्त जीवन की विशाल अनुभूति से प्रसन्न साधक दोषों से कोसों दूर रहता है। १२४.

म्हणोनि स्वधर्में जें अर्जे। तें स्वकर्मेंचि विनियोगिजे।
मग उरें तें भोगिजे। संतोषेंसीं ॥ २५ ॥

स्वधर्म से जो कुछ प्राप्त होता है उसका विनियोग भी स्वधर्म के हेतु किया जाय। जो कुछ शेष रहेगा वह संतोष से सेवन किया जाय।

अतएव जो स्वधर्म के कारण प्राप्त होता है उसका विनियोग भी स्वधर्म के कारण ही होना उचित है। जो संपदा समृद्धि या मन की प्रसन्नता, स्वधर्म से प्राप्त होती है, उसका उपयोग स्वधर्म की अभिवृद्धि के लिए ही हो। उसके विनियोग के पश्चात् जो कुछ शेष रहेगा, उसी का केवल सन्तोष के साथ

सेवन किया जाय । मनुष्य जीवन का प्रवास इस प्रकार स्वधर्म पर अवलम्बित है । उसकी अभिवृद्धि में मनुष्य की अभिवृद्धि है। जो यह जानकर इसके अनुसार स्थिरता से अनुशासन करता । वह निःसंशय धन्य है । १२५.

हें वांचुनियां पार्था । राहाटों नये सर्वथा ।
ऐसी आद्य हे कथा । श्रीमुरारी सांगे ॥ २६ ॥

श्री भगवान् मुरारी यह आद्यकथा सुना रहे हैं । हे पार्थ । स्वधर्म छोडकर किसी भी प्रकार निर्वाह नहीं होना चाहिये ।

यही केवल अनुशासन का मार्ग है । इसके सिवा अन्य गति नहीं । स्वधर्म सेवन तथा यज्ञशेष का उपयोग ये दोनों बातें साधकों के लिए नितांत आवश्यक हैं । इसके अनुसार ही व्यवहार होना चाहिए । इस प्रकार यह सनातन वचन भगवान श्रीकृष्ण कह रहे हैं । १२६.

(भुञ्जते ते त्वघं पापाः)
जे देहचि आपणपें मानिती ।
आणि विषयातें भोग्य म्हणती ।
ययापरातें न स्मरती । आणिक कांहीं ॥ २७ ॥

जो देह को ही सत्य समझते हैं (अपने को देह समझते हैं) और विषयों को केवल भोग्य समझते हैं, जिन्हें और कुछ सूझता नहीं –

यह देह, जीवन का अन्तिम सत्य कदापि नहीं । उससे जो परे है, उस ओर ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए । जो देह

को ही सत्य मानते हैं, उन्हें विषयों का बन्धन रहेगा। विषयों का बन्धन होने से भोग की इच्छा स्वभावतः आती है। इस प्रकार अहंबुद्धि के, व्यक्ति जीवन के शाश्वत सत्य से वे दूर रहते हैं और झूठे तत्वों को अपनाये रहते हैं। उनका मन भोग में डूबा रहता है। जीवन भोगार्थ होता है और सब कुछ अहंता में खो जाता है। १२७.

हें यज्ञोपकरणें सकळ। नेणत सांते बरळ।
अहंबुद्धि केवळ। भोगूं पाहती ॥ २८ ॥

वस्तुतः सभी विषय यज्ञ के साधनमात्र हैं। सभी विषय सान्त हैं यह भी वे जानते नहीं। वे केवल अहं बुद्धि से भोग परायण होते हैं।

वास्तव में इन्द्रियाँ यज्ञ के साधन हैं। उनके द्वारा यज्ञ की पूर्ति हो, न कि विलासता बढे। किन्तु जो उनका कारण नहीं समझते और उनके अनुसार ही आचरण करते रहते हैं ऐसे वे भ्रान्त मनुष्य निःसंशय अहंबुद्धि के होते हैं। वे केवल इंद्रियों के उपभोग के कारण समझते हैं और उपभोग में ही मग्न रहते हैं। वही उनके जीवन का सर्वस्व रहता है। इस प्रकार इन्द्रियों के आधीन होकर वे जीवन का परमतत्व ही खो बैठते हैं। १२८.

इंद्रियरुचीसारिखें। पाक करविती निके।
ते पापिये पातकें। सेविती जाणा ॥ २९ ॥

इन्द्रियों की रुचि के अनुसार नानाविध भोग्य पदार्थ

तैयार करके वे सेवन करते हैं। वस्तुतः वे पापी पाप ही का सेवन करते हैं।

इन्द्रियाधीन व्यक्ति इन्द्रियों की कामना पूर्ण करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे इन्द्रियों की रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थ निर्माण करके उनका सेवन करते रहते हैं। देह बुद्धि के ये दास, वास्तव में इस प्रकार बर्तावकर पापों का ही सेवन करते हैं। यह जिह्वालौल्य ही है। इन्द्रियों का यथार्थतत्व न समझने के कारण तथा अहंता से जड़ बुद्धि होने से वे इस प्रकार स्वधर्म छोडकर पाप में मग्न रहते हैं। १२९,

हें संपत्तिजात आघवें। हवनद्रव्य मानावें।
मग स्वधर्मे यज्ञें अर्पावें। आदिपुरुषीं ॥ ३० ॥

यह संपूर्ण संपत्ति तथा विषयोपभोग एक प्रकार स्वधर्मयज्ञ का हवन द्रव्य ही है। स्वधर्म यज्ञ से, उनका समर्पण आदि-पुरुष के चरणों में किया जाय।

यह जो कुछ है वह वास्तव में संपदा है। स्वधर्म के द्वारा प्राप्त साधन संपदा तथा ज्ञान संपदा यज्ञ का हविर्भाग है। उनका विनियोग भी यज्ञ के लिए होना उचित है। स्वधर्म यज्ञ के द्वारा उस आदि पुरुष के चरणों में इस संपदा को सादर समर्पित करना साधक का परम श्रेष्ठ कर्तव्य है। इस कर्तव्य का अनुष्ठान बिना विलम्ब होना चाहिए। यही महती साधना है। इसमें किसी प्रकार की भूल नहीं होनी चाहिए। १३०.

(ये पचन्त्यात्मकारणात्)

हें सांडुनियां मूर्ख । आपणपेयालागीं देख ।
निपजविती पाक । नानाविध ।। ३१ ।।

इस प्रकार समर्पण छोडकर मूर्ख लोग अपने लिये इन सब का उपभोग करते हैं। नानाविध सेव्य पदार्थ तैयार करते हैं।

इस प्रकार समर्पण छोडकर मूर्ख लोग स्वार्थ के लिए ही विविध उपभोग्य पदार्थों की निर्मिति करते हैं। स्वार्थांधता के कारण उस परतत्व का प्रत्यय उन्हें नहीं होता। इंद्रियों के अधीन होकर केवल अपने पेट के लिए जीवन का अपव्यय करनेवाले ये निःसंशय मूर्ख ही हैं। १३१.

जिहीं यज्ञ सिद्धी जाये । परेशा तोषु होये ।
तें सामान्य अन्न नोहे । म्हणोनि गा ।। ३२ ।।

जिन पदार्थों के द्वारा स्वधर्म यज्ञ ही होता है, जिन से परमात्मा संतुष्ट होता है, वे पदार्थ (अन्न) मामूली नहीं।

जो प्राप्त संपदा है, उसे परमेश्वर के चरणों में सादर समर्पित करने से यज्ञदेव सन्तुष्ट होंगे। इस यज्ञ की सिद्धि परमेश्वर को प्रसन्न कराने में समर्थ है। इस प्रकार वह आप्तकाम परमेश्वर सन्तुष्ट होकर तुझे भी "तृप्त" तथा स्वयंसिद्ध बनायेगा। तेरा जीवन सम्पूर्णतया सफल होगा। और प्रत्येक क्षण उस परतत्व के साक्षात्कार से तू प्रसन्न हो उठेगा। तेरा अस्तित्व ही कर्तव्यमय होगा। किसी भी प्रकार

करने से, न करने से या कराने से तेरा कुछ भी बनेगा या बिगडेगा नहीं। जीवन का प्रज्ञान तथा पूर्णकाम दर्शन तेरे लिए सुलभ होगा। इसलिए यह अन्न सामान्य नहीं। इसके द्वारा ही वह ईश्वर तुष्ट होता है। यह ब्रह्म है। १३२.

हें न म्हणावें साधारण। अन्न ब्रह्मरूप जाण।
जें जीवन हेतुकारण। विश्वा इया ॥ ३३ ॥

इस प्रकार का अन्न असाधारण है। वह केवल ब्रह्म रूप है। इस विश्व का जीवन हेतु है, कारण है।

स्वयंसिद्ध जीवन का साक्षात्कार क्षण क्षण प्रतीत होने के कारण सब कुछ सफल हो जायगा। इस ब्राह्मी अवस्था में ब्राह्मण की देह ब्रह्मभवन ही होती रहेगी। यह उस स्वधर्म के यज्ञावशिष्ट के सेवन से होता है। अतएव वह ब्रह्मरूप है। वह सच्चे जीवन का कारण है। इस विश्व का उत्थान तथा विकास स्वधर्म से है। स्वधर्म का यज्ञावशिष्ट अन्न ही जीवन की शाश्वत चेतना है। उसका यथार्थत्व ठीक ठीक ध्यान में रखना चाहिए। पुरुषार्थ का विलास ही विश्वरूप में विहित है। उसका कारण इस अन्नब्रह्म में स्थित है। १३३.

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्न से प्राणि मात्र की निर्मिति होती है, पर्जन्य से अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञ के द्वारा पर्जन्य, वृष्टि होती है तथा यज्ञ कर्म से सम्पन्न होता है ॥ १४ ॥

(अन्नादिति)
अन्नास्तव भूतें । प्ररोह् पावती समस्तें ।
मग पर्जन्य या अन्नातें । सर्वत्र प्रसवे ।। ३४ ।।

अन्न से ही समस्त प्राणियों की निर्मिति होती है । पर्जन्य अन्न की निर्मिति करता है ।

अन्न से प्राणिमात्र की उत्पत्ति है । अन्न वास्तव में उन पंच महाभूतों का सूक्ष्म रूप है । उसके द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति होती है । देह धारण के लिए आवश्यक स्थिरता इस अन्न से प्राप्त होती है । इस दृष्टि से भी अन्न ब्रह्म है । इस अन्न की उत्पत्ति पर्जन्य के कारण होती है । पर्जन्य के द्वारा अन्न का प्रवर्तन है । इस प्रकार पर्जन्य भी इस विश्व का एक कारण तथा ब्रह्म है । पर्जन्य से अन्न की स्थिति है । १३४.

(यज्ञादिति)
तया पर्जन्या यज्ञीं जन्म । यज्ञातें प्रकटी कर्म ।
(कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि)
कर्मासि आदि ब्रह्म । वेदरूप ।। ३५ ।।

यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति है । कर्म से यज्ञ होता है । कर्म को वेद रूपी आदि ब्रह्म प्रकट करता है ।

पर्जन्य की वृष्टि यज्ञकर्म से होती है । 'यज्ञ' कर्म से किया जाता है । वास्तव में इस जीवन की गति कर्म से संलग्न है । कर्म से इस विश्व का विकास हुआ है । अतः कर्म ही हरेक कार्य में कारण बनता है । विश्व भी महान् कार्य है, उसका कारण कर्म से सम्बद्ध अवश्य है किन्तु कर्म स्वयं कुछ नहीं

करता या हो सकता। वह इस दृष्टि से जड है। कर्म के लिये कर्ता की अनिवार्यता है। कर्म को उसकी अपनी संवेदना है ही नहीं। जिसकी संवेदना से इस कर्मसूत्र का निर्माण हुआ वह है "वेद"। वह मूल संवेदना, ज्ञान ही कर्म की निर्मिति में प्रेरक तथा संचालक है। अतएव उसे "आदिब्रह्म" कहा जाता है। १३५.

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठतम्॥ १५॥

कर्मों का उद्गम वेदों से होता है और वेद परमेश्वर द्वारा प्रगट किये गये हैं। अतएव सर्वगत परमेश्वर यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है॥ १५॥

(ब्रह्माक्षरसमुद्भवं)
मग बेदांतें परात्पर। प्रसवतसे अक्षर।
(तस्मादिति)
म्हणोनि हें चराचर। ब्रह्मबद्ध॥ ३६॥

वेद का परात्पर अक्षर ब्रह्म निर्माण करता है। अतः यह संपूर्ण चराचर ब्रह्म रूप है। (ब्रह्म से और ब्रह्माधीन है।)

इस प्रकार उन वेदों से कर्म सम्भव है। "वेद" आदि संवेदक होने पर भी उसका ज्ञाता तथा अधिष्ठाता उससे अलग है। वह सर्वश्रेष्ठ परात्पर अक्षर-तत्व है। वही वेदों से अनेकविध होने का संकल्प करता है। वही अपने को विविधता से 'प्रज्ञावत' करता है। इस विश्व में जो कुछ है वह सब

उसकी स्थिति से निर्मित हुआ है। वह अक्षर अपने को प्रसृत करता है और सर्वत्र अपने को अक्षरत्व से ही देखता है। उसका स्वभावसिद्ध आनन्द तथा प्रेम वैसा ही बना रहता है। विविधता में उसकी एक रस स्थिति है। इससे वह स्वयं स्वतंत्र है, किन्तु कर्मों से निर्मित उसकी प्रजा कर्मबद्ध होती है। सम्पूर्ण चराचर इसके आधीन है। १३६.

परि कर्माचिया आर्ती। यज्ञें अधिवास श्रुति।
ऐकें सुभद्रापति। अखंड गा ।। ३७ ।।

हे सुभद्रापति अर्जुन ! सुन। कर्म रूप यज्ञ में श्रुति की अवस्थिति अखंड है।

वास्तव में सम्पूर्ण प्राणिमात्र तथा यह चराचर जगत् उस परात्पर अक्षर तत्व का ही विलास है। अक्षरतत्व का अधिष्ठान होते हुए भी यह संपूर्ण जगत् कर्म में बद्ध है। तिसपर मनुष्य को स्वतन्त्र बुद्धि दी गई हैं। विश्व की निर्मिति का प्रधान अंग कर्म तथा यज्ञ जानकर वह विलक्षण बलवान हो सकता है। यज्ञ तथा कर्म में वेद की प्रतिष्ठा करके ब्रह्मांड नित्यत्व बनाये रखता है। इस अबाध गति की प्रेरणा वेदप्रतिष्ठायुक्त ज्ञानमूलक यज्ञ कर्म द्वारा ही हो सकती है। अतः हे सुभद्रापति अर्जुन, इस परिस्थिति में विश्व का चक्र इस प्रकार चलता रहता है। १३७.

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।। १६ ।।

हे अर्जुन ! उपर्युक्त मत के अनुसार प्रवर्तित इस चक्र

को यहाँ जो उसी प्रकार आगे नहीं चलाता वह पापी है । उसके कर्म इन्द्रियों के सुख के लिए होते हैं और वह व्यर्थ जीवित रहता है ॥ १६ ॥

(एवं प्रवर्तितं चक्रं)
ऐसी हे आदिपरंपरा । संक्षेप तुज धनुर्धरा ।
सांगीतली या अध्वरा । लागोनियां ॥ ३८ ॥

हे धनुर्धर ! स्वधर्म रूप यज्ञ के अनुषंग से यह सृष्टि. रचना की मूल परम्परा मैंने कही है ।

हे अर्जुन इस प्रकार सृष्टि की रचना की आदि परंपरा यज्ञ के संबंध में मैंने बताई है । विश्व के संभव में यज्ञ कर्म महत्व की बात है । उसके द्वारा परंपरा से विश्वचक्र अविरत चल रहा है । उसके अनुरूप आकार तथा कला इस यज्ञ की आत्मा तथा बल है । इसके बल में कभी न्यूनता नहीं होनी चाहिए । उसका यथाविधि शुचित्व के साथ ज्ञान-युक्त आचरण होना नितांत आवश्यक है । १३८.

(नानुवर्तयतीह यः)
म्हणोनि समूळ हा उचितु । स्वधर्मरूप क्रतु ।
अनुष्ठितां मातु । लोकीं इये ॥ ३९ ॥

सभी प्रकार से अत्यन्त उचित ऐसे स्वधर्म यज्ञ का, जो इस जगत में अनुष्ठान न करके प्रमत्त बना रहता है –

मनुष्य की विशेषता यह है कि वह बुद्धिमान प्राणी है । वह स्वतन्त्र रूप से विचार करनेवाला, यथाशक्य परिस्थिति पर

नियन्त्रण करनेवाला, आत्मस्वातंत्र्ययुक्त है। अतः उसके लिए यह परमावश्यक है कि यह जो निर्माण हुआ है, वह क्या है यह समझे। उसका किस प्रकार निर्माण हुआ, वह समझ ले। विश्वसंभव तथा उसके आदि तत्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर ले। इस प्रकार विचार करने पर जब वह विश्वके अधिष्ठान भूत इस यज्ञ चक्र को जान लेता है, ठीक ठीक समझ लेता है तब उसकी बुद्धि ज्ञान संपन्न तथा स्थिर हो जाती है। उसकी यथार्थता उसे विदित होती है। पग पग पर वह यज्ञ का आवाहन ही करता रहता है। उसकी बुद्धि इस प्रकार सुप्रतिष्ठित होती है। उसका संवेदन समझकर वह इस विश्व यज्ञ में मूलतः सहायक होता है। स्वधर्म सेवन तथा यज्ञ चक्र प्रवर्तन उसके द्वारा अबाध होताही रहता है।

जो वास्तव में इस प्रकार नहीं जानते वे केवल प्रमत्त ही हैं। क्यों कि जिस बात की इस जीवन में नितांत आवश्यकता है उसकी ओर ध्यान न देने से हानि के बिना और क्या होगा? ऐंसे लोग वास्तव में इस विश्वगति को जानते ही नहीं, जानने की इच्छा तक नहीं रखते। इस लिए वे उन्मत्त हैं। १३९.

(अघायुरिन्द्रियारामः

तो पातकांचा राशी। जाण भार भूमीसी।
जो कुकर्में इंद्रियांसी। उपयोगा गेला।। ४०।।

वह केवल पातकों की राशि है इस भूमि के लिए वह भार मात्र हैं। इंद्रियों के कुकर्म में उसकी आयु का नाश ही हुआ है।

स्वकर्मही इस जीवन में उचित और विहित कर्म है। इसके यथाविधि होने के लिए विशुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है। जो जीवन की गतिविधि, यथार्थता से समझ लेने की चेष्टा करता है, वह अपने आप स्वधर्मयज्ञ का अध्वर्यु होता है। किन्तु जो इस प्रकार नहीं करते, उनके द्वारा स्वधर्मयज्ञ कैसे संभव है? उनका कर्म विश्वगति में बाधा डालनेवाला ही सिद्ध होगा। क्योंकि न तो वे विश्व यज्ञ को जानते हैं, न स्थिर होकर जानने की इच्छा करते हैं। इससे वे वास्तव में भोगासक्त इंद्रियों की कामनाओं से व्याकुल रहते हैं। उसमें ही निमग्न रहते हैं। ऐसे लोग क्यों पापी न होंगे? पापों के पर्वत के समान ही भूमि का भार होकर वे घूमते रहते हैं। संपूर्ण जीवन इंद्रिय भोग की लालसामें व्यतीत करके व्यर्थ गंवाते हैं। न वे अपना कल्याण करते हैं, न विश्व का। १४०.

(मोघं पार्थ स जीवति)

त्याची जन्मकर्मे सकळ। अर्जुना अति निर्फळ।
जैसे कीं अभ्रपटळ। अकाळींचें ॥४१॥

पर्जन्य के न होने पर भी अगर मेघ छा जाते हैं तो भी वे पानी नहीं बरसाते, उसी प्रकार उसके जीवन के कर्म निष्फल हैं।

हे अर्जुन! स्वधर्महीन व्यक्ति का आचार केवल भोगार्थ ही होता है। स्वधर्म के द्वारा उस परम तत्व की एकता स्थापित करने की अपेक्षा विविधिता तथा कर्म वैचित्र्य में संलग्न रहकर इंद्रियों का पोषण करनेवाला मानव पापी नहीं तो और क्या

है ? स्वधर्म धारण के द्वारा विश्व धारण करने वाले व्यक्ति का पावन चरित्र कहाँ, और अपने लिए केवल स्वार्थी वृत्ति से जीवन व्यतीत करने वाला अनाचारी कहाँ ? जहाँ परमेश्वरका संवेदन स्वीकार्य नहीं, वहाँ की अनक्षर याने अक्षररहित वृत्ति किस काम की ? वास्तव में नाम, रूप, अक्षर आदि की धारणा अधिष्ठान से होती है, उसके चरणोंपर स्थिरता से एकता लाना ही भक्ति है। उस भक्ति में विलीन मन का श्रेष्ठ स्वरूपही मन:सौन्दर्य है। मनुष्य जन्म का साफल्य उस अमर संवेदन का अनुभव करने में ही हैं।

......जिनका जीवन इस प्रकार संयमित नहीं है, जिनका मन निर्विषय नहीं है, जिनकी बुद्धि परतत्वका साक्षी नहीं उन्होंने व्यर्थ जन्म गंवाया है। ऋतु के बीत जाने पर आकाश में आये हुए मेघ जिस प्रकार किसी काम के नहीं होते, उसी प्रकार इनकी अवस्था है। अकारण जन्म लेकर व्यर्थ नष्ट होते हैं। साफल्य उनके लिए है ही नहीं। वास्तव में यथाकाल वृष्टि ही जीवन देती है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार यथाविधि स्वधर्माचरणही जीवन को प्रसन्न कर सकता है। १४१.

कीं गळस्तन अजेचें। तैसें जियालें देख तयाचें।
जया अनुष्ठान स्वधर्माचें। घडेचिना ॥ ४२ ॥

बकरी के गले का स्तन दूध न होने से जैसे व्यर्थ रहता है, उसी प्रकार स्वधर्मानुष्ठान न करनेवाले व्यक्ति जीवित रहने पर भी मृत के समान है।

अनुकूल स्थिति होनेपर ही सब कुछ सफल होता है।

बकरी के गले पर स्तन आने से क्या उससे दूध मिल सकता है ? वह निष्फल ही है । वह होकर भी नहीं के बराबर है । उस प्रकार जिस के हाथ से स्वधर्मानुष्ठान होता ही नहीं, वे जीवित रहने पर भी मृत के समान हैं । उनका जीवन-जीवहीन, चेतनाहीन है । स्वधर्म के लिये न धारण किया जानेवाला जीवन, एक प्रकार अर्थ रहित शब्द के समान ही है । १४२

म्हणोनि ऐकें पांडवा । हा स्वधर्म कवणें न सांडावा ।
सर्वभावें भजावा । हाचि एक ।। ४३ ।।

इस लिये हे पार्थ ! स्वधर्म किसी को भी छोडना नहीं चाहिए सर्वात्मना सर्व भावों से उसका ही सेवन करना चाहिये ।

अत: हे प्यारे पार्थ, नि:संशय यह बात महत्व की है कि किसी भी अवस्था में स्वधर्म त्यागना उचित नहीं । हरेक को चाहिए कि स्वधर्म का यथाविधि सेवन करे । सभी प्रकार से सर्वभावों से उसका ही भजन करें । अन्य किसी कर्म में रत होने की अपेक्षा स्वधर्म का अनुष्ठान करने से अपने आप प्रेम उत्पन्न होगा, और स्वधर्माचरण सुलभ होगा । इस श्रेष्ठ कर्तव्य को छोडना जीवन को छोडकर मरण को स्वीकार करने के समान है । १४३.

(अयं भाव:)
हां गा शरीर जऱ्ही जालें । तरी कर्तव्य वोघेंचि आलें ।
मग उचित कीं आपले । वोसंडावें ।। ४४ ।।

एक बार शरीर की प्राप्ति होने पर, शरीर के साथ ही

कर्म तथा कर्तव्य अपने आप लगे रहते ही हैं । अतः जो उचित तथा विहित है वे कर्म हम क्यों त्याग दें ?

कुछ भी क्यों न हो, एक बार शरीर प्राप्त हुआ है। उसकी धारणा नितांत आवश्यक है। इस लिये विहित कर्तव्य भी है तो फिर हम वह उचित कर्तव्य किस लिये छोडें ? अगर उसके बिना दूसरा मार्ग नहीं तो फिर औचित्य के साथ उन प्राप्त कर्मों को निष्कामता से क्यों न करें ? १४४.

तरी परिस पां सव्यसाची । मूर्ति लाहोनि देहाची ।
खंती करिती कर्माची । ते गांवढे गा ।। ४५ ।।

हे सव्यसाची अर्जुन ! देह के प्राप्त होने पर कर्म का खेद करनेवाले सरासर अज्ञानी हैं ।

हे सत्यरूप अर्जुन ! मनुष्य को देह कर्मधर्म संयोग से प्राप्त होनेपर, उसे योग्य कर्म करना चाहिए । कर्म किये बिना कैसे जीवित रह सकता है ? फिर भी लोग कर्म तो अवश्य करते हैं किन्तु दुःख से। मन में व्यथित होकर । वास्तव में यह नितांत मूर्खता का व्यवहार है। कर्म करना कोई बुरी बात नहीं। वह प्राप्त है, अतः करनाही चाहिए। किन्तु वह किस प्रकार करें, यह महत्व की बात है। निष्काम होकर, विहित स्वधर्माचरण करनेवाले ही जीवन को सफल बनाते हैं। १४५.

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। १७ ।।

किन्तु जो व्यक्ति आत्मा में ही प्रेम रखनेवाला, आत्मा

में ही तृप्त तथा आतमा में ही संतुष्ट है, उसे किसी भी प्रकार का कर्म करणीय नहीं रहता ॥ १७ ॥

(यस्त्विति)
देखें असतेनि देहधर्में । एथ तो एक न लिंपेचि कर्में ।
तो अखंडित रमे । आपणपें ॥ ४६ ॥

जो आत्मस्वरूप में लीन हुआ है, वही केवल देह धर्म होने पर भी कर्म से बद्ध नहीं रहता।

जो देहधारी है, उसके लिए देहधर्म आवश्यक है। देहधर्म होनेपर भी या उसके अनुसार कर्म करनेपर भी जो आत्मनिष्ठ है, वह कर्म से बाधित नहीं होता। अखंड रूपसे आत्मा में रममाण होने से, कर्म का बंधकत्व शेष नहीं रहता। जन्म, कर्म करने के लिए होता है। किन्तु यहां उसका जन्म, कर्म को कारण की ओर लेता है। बोध स्वरूप होने के कारण वह स्वयं आत्मनिष्ठ तथा कर्म संग से दूर रहता है। १४६.

(आत्मनीति)
जैं तो आत्मबोधें पोखला। तऱ्ही कृतकाय देखैं जाला।
म्हणोनि सहजें सांडला। कर्मसंगो ॥ ४७ ॥

जो आतम बोध से कृतकाम हुआ है, परिपुष्ट हुआ है वही कर्म संग से अलिप्त है।

आत्मबोध होने से पूर्णतया तृप्तकाम, संतुष्ट हुआ वह योगी जीवन की सफलता पाता है। वह कृतकार्य होता है। वह सिद्धार्थ होकर रहता है। इससे उसके लिए कुछ करने की

आवश्यकता ही क्या ? न कुछ पाना है, न कर्तव्य है । आत्मकाम होकर वह कर्म संग से दूर रहता है । १४७.

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। १८ ।।

इस जगत में उसके द्वारा किये गये कर्मोंसे या न किये गये कर्मोंसे उसे अपने लिए कोई लब्धि नहीं, साथही उसका कल्याण भी यहाँ किसी भी प्रकार के पदार्थ या भूतों के आश्रय-पर अवलंबित नहीं है ।। १८ ।।

(नैव तस्येत्यर्ध)
तृप्ति जलिया जैसी । साधने सरती आपैसीं ।
देखैं आत्मतुष्टि तैशीं । कर्मं नाहीं ।। ४८ ।।

तृप्ति होते ही तृप्ति के साधन निरर्थक होते हैं । आत्म तृप्ति कर्म के द्वारा नहीं होती । आत्म तृप्त आदमी को कर्मों की जरूरत नहीं रहती ।

विशेषता यह है कि कर्म करने से तृप्ति नहीं होती। आत्मतृप्ति कर्म के द्वारा नहीं होती । आत्म बोध से उसकी प्राप्ति संभव है । जिस प्रकार तृप्ति होने से, तृप्त करने वाले साधनों के उपयोग की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार आत्मतृप्ति प्राप्त होने पर कर्म भी व्यर्थ हैं । उसका कर्मों से कुछ संबंध नहीं रहता । १४८.

(न चेदित्युत्तरार्धं)

जंववरी अर्जुना। तो बोध न भेदे मना।
तंवचि या साधना। भजावें लागे ॥ ४९ ॥

जब तक आत्म बोध मन से प्रतीत नहीं होता, तब तक ही अर्जुन ! इन साधनों का अनुष्ठान आवश्यक है।

हे अर्जुन ! जब तक बोध नहीं होता तब तक आत्मतृप्ति कदापि संभव नहीं। जब बुद्धि उस आत्म बोध से संपन्न होगी तब इन कर्मों का कुछ प्रयोजन नहीं होगा। किन्तु तब तक इन साधनों का उपयोग करना ही चाहिए। १४९.

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अतः अनासक्त होकर उचित तथा विहित कर्म निरंतर करते रहो क्यों कि अनासक्त होकर कर्म करने से मनुष्य अमृतत्व को पाता है ॥ १९ ॥

(तस्मादिति)

म्हणोनि तूं नियंतु। सकळकामनारहितु।
होउनियां उचितु। धर्मे राहाटें ॥ ५० ॥

अतः तू स्वधर्म युक्त जीवन बिता। निष्काम होकर उचित कर्मों का सेवन कर।

अतः हे प्यारे, तू सदैव निष्काम होकर उचित स्वधर्म का सेवन कर। अपनी वासना तथा कामनाओं को ठीक ठीक जानकर उन्हें यथाशक्य नियन्त्रित करके अपने स्वधर्म का

आचरण यथाविधि कर। जैसे जैसे अनुष्ठान होता जायेगा वैसे वैसे स्वधर्म के प्रति प्रेम भी बढेगा। १५०.

(असक्त इति)

जें स्वधर्में निःकामता। अनुसरले गा पार्था।
ते कैवल्यपर तत्त्वतां। पावले जगीं ॥ ५१ ॥

हे पार्थ ! जिन्होंने स्वधर्म यज्ञ से निष्कामता प्राप्त की है वे तत्वतः कैवल्य को ही पा चुके हैं।

निष्काम स्वधर्माचरण करनेवाले सज्जन यथाकाल मुक्त हुए हैं। अपने सत्वाचरण के कारण, हे पार्थ ! वे उस अमृतत्व के स्वामी बने हैं। अतः किसी भी अवस्था में स्वधर्म सेवन करनाही योग्य है। १५१.

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्मों के द्वारा ही (कर्मयोग से) जनकादि महात्माओं ने संसिद्धि प्राप्त की है, अमृतत्व पाया है, अतः लोकसंग्रह की ओर ध्यान देकर तू भी कर्म कर ॥ २० ॥

(कर्मणैवेति)

देख पां जनकादिक। कर्मजात अशेष।
न संडितां मोक्षसुख। पावते जाले ॥ ५२ ॥

जनकादि महात्मा संपूर्णतया कर्मानुष्ठान करते करते ही मोक्ष को पहुँचे हैं।

जनकादि महात्मा कर्मयोग का अनुष्ठान करते थे।

उन्होंने 'इसी योग' के द्वारा अमृतत्व पाया। उन्होंने कर्मों का त्याग नहीं किया। निष्काम वृत्ति से कर्म करते करते उस महान तत्व का साक्षात् दर्शन या अनुभव उन्हें हुआ। कैवल्यपद का सुख उन्होंने कर्मों में रत होकर ही पाया। १५२.

(लोकसंग्रहमिति)
या कारणें पार्था। होआवी कर्मीं आस्था।
हे आणिकही एक अर्था। उपकारेल ।। ५३ ।।

हे पार्थ ! इसी लिये कर्मों में आस्था होनी चाहिये। उससे और एक प्रकार का लाभ होगा।

इस लिये हे पार्थ ! कर्मों में आस्था उत्पन्न होनी ही चाहिए। कर्मोंमें आस्था होनेसे उसका अनुष्ठान रसमय होता है। एक प्रकार से वहाँ आत्मीयता आती है और कर्मानुष्ठान सुलभ होता है। केवल इस लिये नहीं तो एक और महत्व का कारण है। उससे और एक विशेष प्रकार का लाभ होनेवाला है। यह ध्यान में रखकर ही कर्मों में रत होना उचित है। १५३.

जें आचरतां आपणपेया। देखी लागेल लोका यया।
तरि चुकेल हा अपाया। प्रसंगेची ।। ५४ ।।

कर्म योग का अनुष्ठान अपनी ओर से होने से लोग उसे देखेंगे। साथ ही प्रसंगोपात्त उससे उनका दुःख भी दूर होगा। लोग अनुसरण करेंगे।

अपनी ओर से कर्मयोग का अनुष्ठान होने से, लोग उसे

देख लेंगे। लोगों में भी उसके प्रति आस्था होगी। वे उसका अनुष्ठान हमारी ओर देखकर करेंगे। जिसका परिणाम यह होगा कि वे भी प्रसंगवश अपने दु:खोंसे दूर होंगे। वास्तव में कर्म का अनुष्ठान रसमय होने से एक प्रकार की आस्था का निर्माण होगा। किन्तु वहाँ निर्लेपता रहने से वह आस्था विशेष रूप धारण करेगी। इसके द्वारा दूसरों की वृत्तिमें यथाशक्य परिवर्तन होगा। यह एक प्रकार आत्मीयता से की गयी क्रीडा है। क्रीडा होकर भी उसमें कर्तव्य का आदेश है। इससे उसमें अपने आप निष्कामता आयेगी। वह सबसे श्रेष्ठ प्रदर्शन होगा और यह आदर्श अनुष्ठान देख देखकर लोग प्रभावित होंगे। इससे अपनी आस्था और भी विशेष सफल होती है। लोगों पर एक प्रकार का महान् उपकार होता है। क्यों कि कर्मयोग के अनुष्ठान से उनके जीवन में भी स्थिरता आयेगी। वे भी उस परम्परा का रास्ता काटने लगेंगे। प्रसंगवश उनके दु:ख दूर होते जायेंगे और जीवन के सत्य के अन्वेषण के मार्गपर वे अग्रसर होंगे। १५४.

देखें अनार्त जालें। जे निष्कामता पावलें।
तयांही कर्तव्य असे उरलें। लोकांलागी ।। ५५ ।।

जो कृतकाम (निरीच्छ) हुये हैं उन्हें भी लोगों के लिये कुछ कर्तव्य जरूर है।

जिन लोगोंने कर्मयोग के द्वारा निष्कामता पायी है और 'कर्तव्य' कर्म जिनके लिए नहीं रहा, उनमें भी वास्तव में लोगों के प्रति कुछ 'कर्तव्य' है ही। उन्हें दिखाने के लिए तथा

आदर्श स्थापित करने के लिए कर्म करना आवश्यक है। आस्था तथा रस निर्माण करके उन्हें भी कर्मों का स्वीकार करना चाहिए। सभी प्रकार के अर्थ प्राप्त होने पर भी, केवल निष्काम होने पर भी, लोक कल्याण की परम मंगल भावना को स्वीकार करते हुये, कर्मों का आदर्श लोगों के सामने रखना उनका प्रथम कर्तव्य है। १५५.

मार्गीं अंधासरिसा। पुढा देखणाहि चाले जैसा।
अज्ञाना प्रकटावा धर्म तैसा। आचरोनी ॥ ५६ ॥

अन्धे को रास्ता दिखाने के लिये दृष्टि संपन्न आदमी आगे चलता है, उसी प्रकार ज्ञानवान को चाहिये कि वह अज्ञानी का मार्ग दर्शन करें। (धर्म स्पष्ट करें।) अपने आचरण से धर्म को प्रकट करें।

अन्धा रास्ते से जाता है। वह स्वयं कुछ नहीं देख सकता। उसे रास्ता दिखाने के लिए उसके साथ आगे चलनेवाला दृष्टि संपन्न होता है। तभी वह रास्ता तय करता है। इसी प्रकार अज्ञान के कारण लोग स्वकर्म ठीक ठीक नहीं कर सकते। उनका मार्गदर्शन करने के लिए, उचित रास्ता दिखाने के लिए ज्ञानसंपन्न तथा निष्काम व्यक्ति का अनुष्ठान महत्व का है।

या हम यों भी कह सकते हैं, कि अंधा भी रास्ते से जाता है और दृष्टि संपन्न भी। किन्तु दोनों के चलने में कितना अन्तर है? एक ठीक रूप से रास्ता तय करेगा, परंतु दूसरा जो अंधा है, वह ठीक ठीक अपने स्थानपर कैसे पहुँच सकता है? उसके

रास्ता तय करने में अनेक बाधायें रहेंगी । वह गंतव्य स्थान पर तभी जा सकता है कि जब उसे दृष्टि संपन्न व्यक्ति की सहायता प्राप्त हुई हो । अतः अज्ञानी लोगों को अपना कर्म यथाविधि करने में कठिनाई होती है । उन्हें सुचारु रूपसे मार्ग दर्शन, योग्य व्यक्ति के द्वारा होने की आवश्यकता है । १५६.

हां गा ऐसे जन्ही न कीजे । तरी अज्ञाना काय उमजे ।
तिहीं कोणेपरी जाणिजे । मागती ।। ५७ ।।

इस प्रकार अगर न किया जाय तो अज्ञानी स्वधर्म का मार्ग कैसे जान पायेंगे ? वे इस मार्ग को कैसे पार करेंगे ?

अगर इस प्रकार उचित मार्गदर्शन न होगा तो फिर उन लोगों का क्या हाल होगा ? वे रहे हैं अज्ञानी । न कुछ समझ सकते हैं न जान सकते हैं । फिर उनके लिए जीवन केवल अभिशाप के समान ही होगा । उन्हें मार्गदर्शन करने की बडी ही आवश्यकता है । इस सत्य को समझकर, लोक कल्याण की दृष्टि को सामने रखकर निष्काम व्यक्ति के लिये भी कर्म की ही आवश्यकता है । १५७.

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। २१ ।।

जिस प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति आचरण करता है उसके अनुसार सामान्य जन भी आचरण करते हैं । उसको आदर्श, प्रमाण मानकर सामान्य जन उसका अनुसरण करते हैं ।। २१ ।।

(यद्यदिति)

जेथे वडील जें जें करिती । तया नाम धर्म ठेविती ।
तोचि येर अनुष्ठिती । सामान्य सकळ ॥ ५८ ॥

यहां ज्ञानी लोग जो आचरण तथा अनुष्ठान करते हैं, उसे ही दूसरे सभी लोग धर्म समझते हैं। उसके अनुसार अपने अपने कर्म करते रहते हैं।

जो व्यवस्थित व्यक्ति है अर्थात जिसका जीवन सुनिश्चित, अनुशासनबद्ध हुआ है, वही श्रेष्ठ है। निष्काम वृत्ति के कारण उसके जीवन में स्थिरता तथा व्यवस्था आती है। ऐसे लोगों का आदर्श सामान्य लोग स्वीकार करते हैं। वे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं। उनकी स्थिरता के कारण ही, उनका आचरण स्वभावसिद्ध तथा निष्काम होता है। प्रकृति धर्म का तारतम्य यथोचित रीति से उनके जीवन में प्रगट होता है। इस लिए उनका वह आचार ही 'धर्म' होकर रहता है। मनुष्य स्वभाव की यह विशेषता है कि इस प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति की श्रेष्ठ वृत्ति दिखायी देने पर वह उसका अनुसरण अवश्य करता है। अतः वे श्रेष्ठों के अनुसार ही चलते हैं। १५८.

हें ऐसे असे स्वभावें। म्हणोनि कर्म न सांडावें।
विशेषें आचरावें। लागेल संतीं ॥ ५९ ॥

स्वभावतः यह धर्म इस प्रकार है। इस लिये संतों को कर्म न छोड कर उसका अनुष्ठान करना खास कर आवश्यक है।

जो संत हैं तथा जिनको जीवन में कृतार्थता प्राप्त हुई

है उन्हें इस संबंध में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए। उनका यह कर्तव्य है कि दूसरों का मार्गदर्शन करें। न केवल दूर से मार्ग दिखाते रहें वरन् स्वयं उसका आचरण करते ही रहें। अतः कृतार्थं होने के पश्चात् भी उन्हें किसी भी प्रकार का प्रमाद न रखकर इसी योग का अनुष्ठान करते ही रहना होगा। १५९.

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन, इन तीनों भुवनों में मेरे लिये (भगवान श्रीकृष्ण) कोई कर्तव्य शेष नहीं, कुछ अप्राप्त भी नहीं है। क्यों कि मुझे कुछ भी प्राप्त या अप्राप्त नहीं, अतः किसी भी प्रकार का कर्तव्य या कर्म न होने पर भी मैं कर्मों में स्थित हूँ ॥ २२ ॥

(न मे पार्थेति)
आतां आणिकांचिया गोष्टी। कायसी तुज सांगों किरीटी।
देखें मीचि इया राहाटीं। वर्ततसें ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! दूसरे लोगों के आदर्श की चर्चा किस लिये करूँ ? मैं तो स्वयं इसी मार्ग का अनुसरण कर रहा हूं।

हे अर्जुन, अन्य लोगों की बातें, कहने से क्या लाभ ? यह तो तू देख ही रहा है कि मैं स्वयं इस कर्म में रममाण होता हूँ। इस कर्म चक्र का प्रवर्तन यथाविधि करता हूँ। तथा योग्य तथा निष्कामता से कर्म करता रहता हूँ। १६०.

काय सांकडें कांहीं मातें । कीं कवणें एके आर्तें ।
आचरें मी धर्मातें । म्हणसी जऱ्ही ।। ६१ ।।

किस संकट के कारण ? किस इच्छा से ? मेरे इस स्वधर्माचरण की क्या आवश्यकता है ?

क्या मुझ पर किसी प्रकार का संकट है, कि जिसके निवारण के हेतु मुझे कर्म करना पडता है ? या उसके झंझट के कारण मैं इस कर्म को स्वीकार करता हूँ ? किसी भी प्रकार के हेतु के न होनेपर भी, इस स्वधर्म का सेवन मैं क्यों कर रहा हूँ, यह बात तो तू प्रत्यक्ष ही जानता है। अतः यह अच्छी तरह से देख ले । १६१.

तरी पुरतेपणालागीं । आणिक दुसरा नाहीं जगीं ।
ऐसी सामग्री माझ्या आंगीं । जाणसी तूं ।। ६२ ।।

वस्तुतः सभी प्रकार के साधन मेरे पास हैं, मैं स्वयं पूर्ण काम हूं । मेरी, इस संबंध में, बराबरी करनेवाला कोई नहीं । और यह तू जानता ही है ।

वास्तव में मेरी अपनी ऐसी कोई इच्छा नहीं जो तृप्त नहीं होती । जो इच्छा मेरे मन में निर्मित होती है वह तत्काल पूर्ण होती है । सभी प्रकार की सामग्री मेरे हाथ में है । मेरे समान ऐश्वर्य-वान तथा सम्माननीय इस ब्रह्मांड में और कौन है ? किस बात की मुझ में न्यूनता है ? किन्तु मैं स्वयं इस कर्म जाल या जंजाल में आया हूँ । कर्तव्य कर्म करता हूँ, और सत्कार के साथ यथोचित रूपसे मैं स्वधर्म सेवन कर रहा हूँ ।

ये लोग वास्तव में वासनाओं में फंसे हुए अज्ञानी हैं। जिस बात की उन्हें आवश्यकता है, उसे छोडकर वे दूसरी बातों में संलग्न यां लिप्त रहते हैं। उन्होंने मेरे अन्य गुणोंका ही दिखावा किया है। किन्तु इसे स्वीकार करना उचित है। यह स्वधर्म त्यागकर वे यहाँ वर्तमान हैं। मेरी शक्ति तथा सामर्थ्य का प्रत्यय भी इन्हें है, किन्तु वे अपने कर्म में स्थित नहीं होते। १६२.

(नानवाप्तमिति)
मृत गुरुपुत्र आणिला। तो तुवां पवाडू देखिला।
तोहि मी उगला। कर्मी वर्ते ।। ६३ ।।

श्रीगुरु के मृत पुत्र को मैंने जीवित किया वह तूने देखा ही है। इच्छा रहित होकर भी मैं कर्मों में लगा रहता हूं।

इस कर्म में जीवन यापन करते करते मैंने भी कर्तव्य कर्म की ओर सावधानी से ध्यान दिया है। मेरे श्रीगुरु के पुत्र को समुद्रने पाताल में रखा था। उसे मैंने वापस कर दिया। कर्तव्य की भावनाने ही मुझे इस कर्म में प्रवृत्त किया। श्रीगुरु का महात्म्य बढाने के लिये ही यह सब कुछ किया गया। श्रीगुरु की महिमा कैसे कही जायेगी ? जीवन के व्यक्त तथा अव्यक्त स्तरों के बीच दीप के समान प्रकाश देने वाले उनके आदर्श साधकों के लिये परम आवश्यक है। १६३.

परी स्वधर्मी वर्ते कैसा। साकांक्ष होय जैसा।
तयाचि एका उद्देशा। लागोनियां ।। ६४ ।।

आकांक्षा रखनेवाला आदमी जिस प्रकार कर्म करता है

उसी प्रकार मैं भी निष्काम होकर बडी आस्था से कर्म करता हूं। उसका उद्देश वही है।

अत: मैं भी स्वधर्म का सेवन यथोचित रूप से करता हूं। कोई यह भी कह सकता है कि मेरा स्वधर्माचरण साकांक्ष है। इतना एकरूप होकर ही मैं स्वधर्माचरण करता हूँ। उसका केवल एकही उद्देश्य है कि किसी भी हालत में लोगों के सामने बुरा आदर्श न रहे। वे अच्छी बातों को ठीक ठीक समझ लें। अत: निष्काम होकर भी सकाम व्यक्ति के समान मेरा आचरण हो रहा है। १६४.

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

यदि मैं (ईश्वर होते हुए भी) कदाचित सावधान होकर सदाचरण न करता तो मनुष्य मैं जो करूँगा उसका ही अनुसरण करेंगे ॥ २३ ॥

(मम वर्त्मेति)

जें भूतजात सकळ। असे आम्हां आधीनचि केवळ।

तऱ्ही न रहावें बरळ। म्हणोनिया ॥ ६५ ॥

सभी प्राणी वस्तुत: मेरे ही अधीन हैं, अत: वे किसी भी प्रकार भ्रष्ट न होने पायें इस लिये मैं भी सावधान रहता हूं।

वास्तव में ये भूतमात्र मेरे आधीन हैं। मेरे सिवा उनकी अन्य गति नहीं है। तो भी वे किसी प्रकार भ्रष्ट न होने पायें, यह देखना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। पंचभूतों के द्वारा

जन्मे हुये ये प्राणिमात्र वासनाओं के कारण अपने स्वधर्माचरण को छोड देते हैं। किसी भी अवस्था में इंद्रियों की अधीनता न होने पर भी इस बात की सावधानी वर्तनी होगी। वह तंद्रा बुद्धि को अंधा बनाती है। वह जीवन की सावधानी नष्ट करती है। इससे न नींद है न जागृति, ऐसी अवस्था का निर्माण होता है जो साधकों के लिए केवल हानिकारक ही है। कर्तव्यरत होने के लिए जिस प्रकार की दक्षता-सावधानी-आवश्यक है, उसका आशय ही तंद्रा के कारण होता है। किसी प्रकार इंद्रियों की अधीनता स्वीकार न करने से जो आचार विचार होगा वह सावधान तथा कर्तव्यानुगामी रहेगा। इससे विषयों की लालसा से दूर रहकर मनुष्य का स्वभाव धर्म धारण की क्षमता प्राप्त करता है। इस क्षमता के द्वारा स्वधर्म की विधि सुलभ होती जायेगी। जीवन की अनेकता प्रतीत होती जायेगी। संयमादि विशुद्ध भाव धीरे धीरे अपने आप निर्मित होंगे। योग स्वयं योग्यता को प्राप्त होगा। एक प्रकार का प्रदाह अंत:करण को जलाता जायेगा और इस अंत:शुद्धि को प्राप्त होकर साधक कल्याण मार्ग का पथिक बन जाता है। १६५.

आम्ही पूर्णकाम होउनी। जरी आत्मस्थिती राहुनी।
तरी प्रजा हे कैसेनी। निस्तरेल ॥ ६६ ॥

सभी कर्म छोड कर पूर्ण काम होकर आत्म स्थिति में ही मैं अगर लीन रहूँगा तो क्या ये लोग पार हो सकेंगे ?

मैं पूर्ण काम हूँ। किसी प्रकार की कामना या वासना मुझ ईश्वर को विवश नहीं कर सकती। इस प्रकार पूर्णकाम मैं

यदि अपनी ही स्थिति में, आत्मानंद में मग्न रहूँगा, तो प्रजा का क्या हाल होगा । उसका जीवन सुव्यस्थित कैसे होगा ? उसका आश्रय वास्तव में भूतभव्यभवत्‌नाथ मैं ही हूँ । १६६.

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं अपना कर्तव्य न करूँगा तो ये लोग विनष्ट होंगें। इससे मैं वर्ण संकर का (कर्ता) निमित्त होकर उनको नष्ट करूँगा (मानों मैं ही उनका विनाश करूँगा) ॥ २४ ॥

(उत्सीदेयुरिति)

इहीं आमची वास पाहावी । मग वर्ततीपरी जाणावी ।
तैं लौकीक स्थिती अवघी । नाशिली होईल ॥ ६७ ॥

वे तो हमारी राह देखते हैं, और हमारे मार्ग का अनुसरण करते हैं। (यदि हम आत्मस्थिति में लीन रहेंगे तो–) लोक स्थिति नष्ट होगी ।

पृथ्वी गऊ के समान है । मैं परब्रह्म उसका आश्रय हूँ । इस जगत में वह मेरी आशा रखती है । अतः वह मेरा परमेश का अपना रूप देखकरही अपना जीवन यापन करती है । मेरे अनुसारही वह रहती है । मेरा ही आदर्श उसके सामने है । अगर मैं निष्काम होकर आत्मस्थिति में मग्न रहूँ और आदर्श उनके सामने न रखूं तो व्यावहारिकता का आदर्श वह नहीं अपनायेगी । उसके लिए नियत आदर्श आचरण जरूरी है । यह आचार ही अगर न होगा तो फिर अनाचार के अतिरिक्त

और क्या रहेगा ? अनाचार के कारण यहाँ की स्थिति नष्ट होगी । वह विनाश की ओर जायेगी । इस लोक–स्थिति की रक्षा स्वधर्म सेवन पर ही अवलंबित है । स्वधर्माचार का आदर्श मेरी ओर से उन्हें प्राप्त है । अब यह आवश्यक है कि मैं आत्मस्थिति में रहकर भी प्रजा के लिए कार्य करूँ । १६७.

म्हणौनि समर्थ जो येथें । आथिला जो सर्वज्ञते ।
तेणें विशेष कर्मातें । त्यजावें ना ।। ६८ ।।

अतः जो समर्थ है, ज्ञानी है, उसको चाहिए कि वह विशेषतया कर्मों से मुँह न मोडलें ।

इसी दृष्टि से यह आवश्यक है कि जो ज्ञान संपन्न हैं और जो स्वधर्म सेवन किस प्रकार करें, यह जानता है, वह स्वधर्माचार को न छोडे । विहित स्वधर्माचार का आदर्श वह लोगों के सामने रखे तथा यह विश्वव्यवस्था न तोडे । इससे लोक कल्याण संभव होगा । १६८.

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। २५ ।।

कर्म फल की अपेक्षा करनेवाले अविद्वान् लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं, उसी प्रकार विद्वान लोगों को भी लोक संग्रह की भावना से किन्तु अनासक्त रह कर कर्म करना चाहिए ।। २५ ।।

(सक्ताः कर्मणीति)
देखें फळाचिया आशा । आचरे कां कामीक जैसा ।
(कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तः)
कर्मी भर व्हावा तैसा । नैराश्यासी ॥ ६९ ॥

निष्काम आदमी को भी उसी प्रकार का कर्म करना चाहिये जिस प्रकार से सकाम व्यक्ति फलाकांक्षा से करता है।

ऐसा देखा जाता है कि सामान्य लोग फल की दृष्टि से कर्म करते हैं। फल में आसक्ति रखकर उनका आचरण संभव होता है। फल को छोडकर कर्म करना उनके लिए कठिन दिखायी देता है। इस प्रकार सकाम वृत्ति ही उनका आचार है। किन्तु जो निष्काम हैं, उन्हें किसी प्रकार, कर्म की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए यह आवश्यक है कि वे भी कर्म करें। निष्काम वृत्ति से ही (कर्म) करें। कर्म करते रहना उनके लिए भी आवश्यक है। १६९.

(चिकीर्षुर्लोकसंग्रहं)
जें पुढती पार्था । हे सकळ लोकसंस्था ।
रक्षणीय सर्वथा । म्हणोनियां ॥ ७० ॥

हे पार्थ ! यह समाज व्यवस्था, लोक-संस्थान् सर्वथा रक्षणीय है। इस लिये स्वधर्म-रूप कर्म करना आवश्यक है।

क्यों कि लोक संग्रह का होना अत्यावश्यक बात है। लोककल्याण करना उनका महान लक्ष्य होना चाहिये। वे ही कर्म का आदर्श लोगों के सामने उपस्थित कर सकते हैं। यह

लोक संस्था कर्म पर आधारित है । कर्म उचित रीति से होनेपर ही उसकी रक्षा संभव है । कर्म जब उचित रीति से होता है तभी वह धर्म बन जाता है । इस धर्म का यथायोग्य आदर या पालन निष्काम भक्तों के सिवा कौन कर सकेगा ? अतः उनके लिए लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्म करने की नितांत आवश्यकता है । १७०.

मार्गाधारें वर्तावें । विश्व मोहरे लावावें ।
अलौकिका नोहावें । लोकांप्रती ।। ७१ ।।

निष्काम लोगों को भी उचित मार्ग पर ही जाना होगा। उनका मार्गदर्शन करना होगा । किसी भी प्रकार अलौकिक, जनता से अलग, नहीं होना चाहिए ।

अतः निष्काम कर्मयोगियों को भी चाहिये कि वे यथोचित कर्माचार द्वारा मार्गदर्शन करें, क्योंकि लोगों को आश्रय देना, उन्हें कल्याण–पथ का पथिक बनाना उनका कर्तव्य है । विश्व की उन्नति में उन्हें सहायक होना हीं चाहिए । किसी भी प्रकार विशेष आचरण करने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं । सामान्य जन जिस प्रकार दृढता से सामान्य आचरण करते हैं वैसेही सज्जन को भी दृढता से सदाचरण करना चाहिए । अलौकिक होकर लोगों को भुलाना अच्छा नहीं । उनका यथोचित मार्गदर्शन करना चाहिए । १७१.

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।। २६ ।।

कर्मों में तथा फलोंमें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानी लोगों

का बुद्धिभेद न करें। विद्वानों को चाहिए कि वे योगस्थ होकर कर्म करें और लोगों से भी कर्म करायें ॥ २६ ॥

(न बुद्धि भेदमिति)

जें सायासे स्तन सेवी। तें पक्वान्नें केविं जेवी।
म्हणोनि बाळका जैसीं नेदावीं। धनुर्धरा ॥ ७२ ॥

हे धनुर्धर ! नन्हा बालक बडे ही परिश्रम से माँ का दूध पीता है। क्या वह मिष्टान्न खा सकेगा ? उसे वह कभी नहीं देना चाहिये।

प्यारे धनुर्धर माँ का दूध पीना भी जिस बालक के लिए कठिन होता है उसे मिष्टान्न का भोजन देनेसे क्या लाभ ? क्या वह खा सकता है ? वास्तव में सामान्य जन बालक के समान ही हैं। वे सामान्य कर्म को ठीक नही करते। उनकी बुद्धि में न स्थिरता है, न क्षमता। ऐसी अवस्था में निष्कामता की बातें वे कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? उनके योग्य ही बातें उन्हें सिखानी होगी। इसलिए उनकी अयोग्यता जानते हुए उनके सामने निष्कर्मता की बातें करना अनुचित ही है। १७२.

तैसी कर्मीं जया अयोग्यता। तयाप्रती नैष्कर्म्यता।
न प्रकटावी खेळतां। आदिकरुनी ॥ ७३ ॥

जिन लोगों में कर्म ठीक ठीक करने की भी पात्रता नहीं उन्हें किसी भी अवस्था में नैष्कर्म्यता क्यों स्पष्ट करें ?

कर्मों को सुचारु रूपसे करना भी कौशल है। वह भी योग है। जो कर्मों को ठीक नहीं करते उनके लिए पहले पहल

यही सिखाना होगा कि वह कर्म कैसे करें। इस कर्मयोग की महिमा ही उनके सामने प्रगट करनी चाहिए। नैष्कर्म्य का प्राकटच किसी भी अवस्था में न हो। खेल खेल में भी नैष्कर्म्य प्रगट न हो, क्योंकि इस से उनकी कर्म के प्रति श्रद्धा नष्ट होगी। वे कर्म ही न करेंगे। इसलिये कर्मों को सुचारु रूप से करके दिखाना चाहिए। १७३.

(जोषयेदिति)
तेथें सत्क्रियाचि लावावी। तेचि एक प्रशंसावी।
नैष्कर्म्यही दावावी। आचरोनी ॥ ७४ ॥

वहां तो सत्कर्म करने की बात हो। सत्कर्मों की ही प्रशंसा की जाय। साथ ही नैष्कर्म्य का अनुष्ठान स्वयं करके दिखाना आवश्यक है।

अत: सामान्य लोगों के लिए सत्कर्मों का आश्रय उचित है। सत्कर्मों का मार्ग उनके लिए ठीक है। इसलिये सत्कर्मों की प्रशंसा की जाय। उनकी स्तुति हो, जिससे लोगों का प्रेम सत्कर्मों में लगा रहे। निष्काम लोगों को चाहिए कि वे स्वयं उस सत्कर्म का आचार करके, सामान्य लोगों को दिखायें। १७४.

तया लोकसंग्रहालागीं। वर्तता कर्मप्रसंगीं।
तो कर्मबंध आंगीं। वाजैलना ॥ ७५ ॥

लोक संग्रह की दृष्टि से प्रसंगोपात्त जो कर्म होते हैं, उनका किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं रहेगा।

जब कर्म होता है, तब कर्ता कर्म तथा कार्य आदि संबंधी

का निर्माण होता है। कर्मका अपना बंधन भी है जो फिरसे कर्मोंमें फँसाता है। कर्म होनेसे कर्म फल के संबंध में आस्था होती है। सामान्य जनों के मन में यही भावना तीव्रता के साथ रहती है। उससे ही कर्मबंधन दृढ हो जाता है। किन्तु लोकसंग्रह के लिए जब कर्म निष्कामता से किया जाता है, तब इस कर्मबंधन का कोई परिणाम नहीं होता। यहाँ कर्ता निष्काम होता है। उसे न कर्म फल की इच्छा रहती है, न वह अपने को उस से बद्ध करता है। वह जो कुछ करता है, केवल निष्काम होकर, किन्तु विश्व व्यवस्था का योग्य संचालन होने के लिये करता है। इससे कर्मबंधन नहीं रहता है। उसके कार्य से कर्म रहस्य लोगों की समझ में आता है। वे जान सकते हैं कि कर्म क्या है, किस प्रकार किया जाना चाहिए। विशाल भूमिका पर आरूढ होने से योगी का कर्म, लोककल्याण के लिये होता है। विश्वाकार की धारणा का जो जीवन में अनुभव करता है, उसका कर्म विश्व का अलंकार होता है। विशाल भावना तथा बुद्धि से प्रेरित, जीवन की परतत्वदर्शी अनुभूति होने–वाले उस योगी के लिए कर्म, कैसे बंधनकारक होगा ? वह अपना बंधकत्व त्याग कर स्वतन्त्रता से अपना रहस्य लोगों के सामने रखता है। १७५.

जैसी बहुरूपींची रावो राणी। स्त्रीपुरुष भाव नाहीं मनीं।
परी लोकसंपादणी। तैसीचि करिती ॥ ७६ ॥

भिन्न भिन्न रूप धारण करनेवाले (बहुरूपीं) राजा या रानी बनते हैं किन्तु उनके मनमें स्त्री या पुरुष भाव नहीं

रहता। लोग, मात्र व्यवहार में केवल अभिनय के लिये उस प्रकार मानते हैं।

निष्काम योगी कर्मों को करते हुए भी कर्मों से बद्ध नहीं होता। वह जो कुछ करता है, उसके पीछे किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। भिन्न भिन्न रूप धारण करने वाले लोग जिस प्रकार राजा और रानी बनते हैं किन्तु उनके अंतःकरण में स्त्री या पुरुष भाव नहीं रहता। वे चाहे राजा बने चाहे रानी, किन्तु वास्तव में वे अभिनेता ही रहते हैं। उनके द्वारा खेले गये अभिनव पात्र के साथ उनका संबंध नहीं होता। उसी प्रकार योगी के द्वारा किये गये कर्मों से योगी का कुछ बनता बिगडता नहीं। हाँ एक बात आवश्य होती है कि खेल में लोग उनका राजापन या रानीपन अवश्य मानते हैं। उसी प्रकार जीवन में योगी का भी कर्म आदर्शभूत होता है और लोग भी वही कर्म करते हैं। उसका आचार यथाविधि और उचित होता है। इस प्रकार लोकसंग्रह होता जाता है। १७६.

देखे पुढिलाचें बोझें। जरी आपला माथां घेइजे।
तरी सांगे कां न टाकिजे। धनुर्धरा॥ ७७॥

हे धनुर्धर! दूसरे के माथे पर होने वाला बोझ अगर हम अपने सिर पर लेंगे तो फिर कष्ट होंगे ही। ऐसा बोझ तो दूर करना ही चाहिये।

हे प्रिय धनुर्धर! दूसरे के मस्तक पर लादा हुआ बोझ जब हम अपने मस्तक पर लेते हैं तब क्या हमें दुःख नहीं होगा?

वास्तव में जो अपना नहीं उसे हम अपनाते हैं और फिर रोते हैं। उसका कर्ता आत्मा कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह तो अपना है। और मूढता से वह स्वयं अपने कंधे पर कर्मों का बोझ लेता है। १७७.

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

सभी कर्म प्रकृति के सत्व, रज व तम आदि गुणों के द्वारा किये जाते हैं—परन्तु जिसकी मति या आत्मबुद्धि अहंकार के कारण विमूढ व विवेकहीन है वह अज्ञानी कर्मोंका, 'मैं ही कर्ता हूँ' ऐसा मानता है ॥ २७ ॥

(प्रकृतेरिति)

तैसी शुभाशुभ कर्में । जे निपजती प्रकृतिधर्में ।

(अहमिति)

ते मूर्ख मतिभ्रमें । मी कर्ता म्हणे ॥ ७८ ॥

वस्तुतः सभी शुभा-शुभ कर्म प्रकृति के गुणों के कारण पैदा होते हैं। मूर्ख आदमी ही बुद्धि भ्रष्ट होने के कारण अपने को कर्ता समझता है।

वास्तव में कर्म प्रकृति के गुणों से प्रगट होते हैं। प्रकृति कर्मों की धात्री है। उसके गुण तथा इंद्रियाँ कर्म करती हैं। इससे कर्मों का संबंध प्रकृति से है, न कि आत्मा से। आत्मा तो बिलकुल अलग है। निष्कामी पुरुष प्रकृति के चंगुल में नहीं फँसते। केवल साक्षी होकर ही वे जीवन बिताते हैं। उनका कर्मों से

वास्तव में संबंध नहीं रहता। वहाँ प्रकृति के कारण होनेवाले शुभ तथा अशुभ कर्मोंका उससे कोई संबंध नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य साक्षी होकर जगत् का व्यवहार करता है किन्तु उस व्यवहार का बंधन उसे नहीं। वह सर्वथा अलिप्त है। शुभाशुभ कर्मों से वह बद्ध नहीं होता। वह ज्ञानमय तथा साक्षी होने के कारण केवल अधिष्ठाता है, भोक्ता नहीं तथा कर्ता भी नहीं, निर्लेप है परन्तु अहंता से विमूढ हुआ मनुष्य प्रकृति के गुणोंसे किये जाने वाले कर्मों का अपने को कर्ता मानता है। और कर्मबन्धन में फँसता जाता है। १७८.

ऐसा अहंकारारूढ। एकदेशी मूढ।
तया हा परमार्थ गूढ। प्रकटावा ना ॥ ७९ ॥

इस प्रकार जो अहंकार से ओत प्रोत है, साथ ही जो अतिरेकी तथा मूढ है उसे यह निगूढ परमार्थ नहीं कहना चाहिये।

इस प्रकार प्रकृति का वशवर्ती व्यक्ति द्वंद्व से दूर न होने के कारण भला, बुरा आदि सोचता ही रहता है। उसकी अहंता उसे अपनी मुठ्ठी में लेती है। इसी कारण वह एकदेशीय हो जाता है। वह संपूर्णतया विचार ही नहीं करता। वास्तव में इस कर्म तथा कर्मबंधन का पूर्णतः विचार करना उचित है। उससे छूटने के लिये निष्काम वृत्ति की उपासना आवश्यक है। सत्यसे दूर रहकर एकदेशीय होने के कारण वह कुछ भी नहीं समझता। अतः उसके सामने यह विचार जो परमार्थ तत्व का प्रकट आविष्करण है, स्पष्ट करने से क्या लाभ होगा? परमार्थ

तत्व का गूढ अभिप्राय जान लेने की योग्यता तो होनी चाहिए। जब तक वह इसके पात्र नहीं होता तब तक हमारा उसपर विचार करने से क्या लाभ ? १७९.

हें असो प्रस्तुत । सांगिजेल तुज हित ।
तें अर्जुना देउनि चित्त । अवधारीं पां ॥ ८० ॥

हे अर्जुन ! अब तक यह जो मैंने कहा वह काफी है। आगे चलकर तेरे हित की ही बात करनेवाला हूं। ध्यान से सुन।

हे अर्जुन ! अब तक जो कहा गया है, उसे अब हम छोडें। उसे स्पष्ट कर दिया है। अब जो तेरे कल्याण की बात है वह मैं कह रहा हूँ। तू सावधान होकर ठीक ठीक सुन...... १८०.

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

गुण तथा कर्म विभाग का याथातथ्य तत्व जानने वाला व्यक्ति "गुण ही गुणों मे प्रवृत्त होता है" यह जानकर किसी भी प्रकार कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥ २८ ॥

(तत्त्वविदिति)
जें तत्त्वज्ञानियांच्या ठायीं । तो प्रकृतिभाव नाहीं ।
जेथ कर्मजात पाहीं । निपजत असे ॥ ८१ ॥

जो तत्व वेत्ता हैं (आत्मनिष्ठ) उसके पास प्रकृतिज भाव नहीं। वहा कर्म प्रकृति के ही रहते हैं (कर्तृत्व की भावना नहीं होती)।

जो तत्वविद् है उनके अंतःकरण में प्रकृतिभाव नहीं है। प्रकृतिभाव या देहभाव ही सचमुच कर्मों का कारण हैं। देह भाव को देहबुद्धि भी कहते हैं। देह का वृथाभिमान होने के कारण सभी कर्म आत्मा पर लादे जाते हैं। सभी कर्मों का या गुणों का केवल साक्षीरूप या अधिष्ठान तत्व–वेत्ताओं के पास रहता है। जिससे कर्मों के कारण वे कभी व्यथित नही हो सकते। १८९.

ते देहाभिमान सांडुनी। गुणकर्मे वोलांडुनी।
(गुणा गुणेषु वर्तन्ते)
साक्षीभूत होउनी। वर्तती देहीं॥ ८२॥

ऐसे लोग वस्तुतः देह बुद्धि को छोडकर, गुण तथा कर्मों से परे रहकर केवल साक्षी या द्रष्टा रूप में ही देह में रहते हैं।

वे सर्वथा देहाभिमान छोडते, गुण तथा कर्म जानकर उनसे पार होते और केवल साक्षी बनकर इस देह में रहते हैं। वे देह धारण करते हैं किन्तु 'देह भाव' स्वीकार नहीं करते, देहभाव के कारण निर्माण होनेवाले कर्मों से वे बाधित नहीं हो सकते। १८२.

(इति मत्वा न सज्जते)
म्हणोनि शरीरीं जरी होती। तऱ्ही कर्मबंधा नातळति।
जैसा कीं भूतचेष्टा गभस्ती। घेपवेना॥ ८३॥

यद्यपि सूर्य जगत् के कर्म का साक्षी होने पर भी प्राणी मात्र के कर्मों से वह लिप्त नहीं रहता। शरीर में "पुरुष"

का निवास होने पर भी प्रकृति के गुण कर्मों के बंध से वह अलिप्त रहता है।

जब तक शरीर है तब तक उसका संबंध है, किन्तु यह संबंध ठीक ठीक जानने से अपने आप वह स्वतंत्र होता है। देह भाव तथा अपना संबंध जानने से वह मुक्त होता है। वह गुणों के अनुसार कर्मों में रहता है किन्तु उसका बंधन आत्मापर नहीं होता। इस दृष्टि से केवल साक्षीभाव आत्मा का सच्चा भाव है। ज्ञानसंपन्न तत्ववेत्ता इस प्रकार साक्षीभूत होकर कर्मबंधों से सर्वथा दूर रहते हैं।

सूर्योदय के पश्चात् जगत् का व्यवहार प्रारंभ होता है। सूर्य उनके व्यवहार का कारण प्रतीत होता है किन्तु वह केवल साक्षी है। अधिष्ठान है। प्राणियों के कर्म या व्यापार उनके अपने होते हैं। कर्मों के द्वारा होनेवाले बंधन भी प्राणियों परही पडते हैं न कि सूर्यपर। उसी प्रकार आत्मा के अधिष्ठान में प्रकृति की देहधारणा होती है। वह अपने गुणों की गति से कर्मों में वर्तती है। आत्मा पर उसका बंधन नहीं पडता। १८३.

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों के द्वारा मूढ हुए अज्ञ, उन गुण कर्मों में आसक्त होते, तथा उनके फल की भी आशा करते हैं, अतः सर्वज्ञ को चाहिए वह किसी भी प्रकार अज्ञों को विचलित न करें॥ २९॥

(प्रकृतेरिति)

येथें कर्मी तोचि लिंपे । जो गुणसंभ्रम घेपे ।
प्रकृतीचेनि आटोपें । वर्तत असे ।। ८४ ।।

यहां वही केवल कर्म बंधन से युक्त रहता है जो कि भ्रम से प्रकृति के गुण कर्म अपने सिर पर लेता है। प्रकृति के अधीन रहता है।

इंद्रियों के अनुसार बर्ताव करनेवाले अज्ञ लोग ही कर्म से बाँधे जाते हैं। गुणों से वे भ्रष्ट होते तथा गुणों को ही सत्य मानते हैं। इस लिए वे स्वीकार नहीं करते कि प्रकृति से परे भी कोई महा-तत्व है। वे प्रकृति के अनुसार ही चलते रहते हैं। इससे स्वभावत: गुणों का बंधकत्व वे अपने माथे मढते हैं। गुणकर्म प्रकृति का स्वभाव है। प्रकृति स्वयं जड है। वह क्या उस पुरुषार्थ को प्राप्त करायेगी ? वह न किसी को वह तत्व दिखायेगी न दिखलाने की चेष्टा करेगी। वह अपने में ही मग्न होकर रहती है। अत: जो प्रकृति के तंत्रसे ही चलता है, वह उस परम तत्व को कैसे पायगा ? उसे चाहिए कि वह इस गुणधर्म को तथा उससे परे पाँच तत्व को यथोचित समझ ले। अत: सर्वज्ञ को इसी प्रकार सहायता करनी चाहिए। १८४.

(तानिति)

इंद्रियें गुणाधारें। राहाटती निजव्यापारें।

(कृत्स्नविदिति)

तें परकर्म बलात्कारें। आपादिजे ।। ८५ ।।

इन्द्रियाँ गुणों के आधार पर आचारण करती है। वह

दूसरे का कर्म जबरदस्ती से अपने ऊपर लेता है।

वास्तव में इन्द्रिय गुणों के अनुसार व्यापार करते हैं। प्रकृति से निर्मित गुण इन्द्रियों के प्रेरक होते हैं। अतः उनका व्यापार स्वभावतः प्रकृति को प्रसन्न करने के लिए ही रहेगा। प्रकृति से परे जो पुरुष तत्व है, उसका साक्षेप समझना वास्तव में आवश्यक है। जो सर्वज्ञ है, उसे चाहिए कि इन बातों से अज्ञों को परिचित कराये। इन्द्रियों का व्यापार हम अपने माथे क्यों लें? जो जिसका है उसेही उस पर अधिकार है। इन्द्रियों के कर्म इन्द्रियों के लिए छोड दें–बलात् हम क्यों उसे स्वीकार करें? १८५.

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

आतमवृत्ति से सभी प्रकार के कर्म मुझ परमात्मा को अर्पण करके फलासक्ति रहित तथा निर्मम और शोकरहित होकर तू युद्ध कर ॥ ३० ॥

(मयीति)

तरी उचित कर्मे आघवीं। तुवां आचरोनि मज अर्पावीं।

परी चित्तवृत्ति न्यसावी। आत्मरूपीं ॥ ८६ ॥

उचित ऐसे सभी कर्म करके मुझे अर्पण कर! साथ ही अपनी चित्त वृत्ति आत्म रूप में रख।

प्रसंग के अनुसार उचित कर्मों का यथाविधि आचरण होना ही चाहिए। किन्तु ऐसा करते समय मन बिलकुल स्थिर

होना चाहिए। आत्मस्वरूप में स्थित होकर ही कर्मों का अनुष्ठान करें। इस प्रकार कर्म करने से वे कर्म अपने आप मेरे परमात्म के चरणों में समर्पित होते हैं। कर्म समर्पित होने से मुझे बहुत संतोष प्राप्त होगा। और वे किसी भी प्रकार कर्म बन्धन में नहीं बन्धते। १८६.

(निराशीर्निर्ममो भूत्वा)
हें कर्म मी कर्ता। कां आचरेन या अर्था।
ऐसा अभिमान झणें चित्ता। रिघों देशी ॥ ८७ ॥

यह कर्म, उसका कर्ता मैं, तथा उसका अनुष्ठान मैं करूंगा, इस प्रकार का अभिमान अपने चित्त में प्रविष्ट नहीं होना चाहिये।

इस कर्म का करनेवाला मैं कर्ता हूँ इस प्रकार का झूठा अभिमान तुम्हारे अंतःकरण में प्रवेश न कर पावे। कर्म यथाविधि तो जरूर हो किन्तु निरभिमान वृत्ति से आत्मस्वरूप में विलीन होकर, निर्ममता से कर्म किया जाय। किसी भी प्रकार फल की आसक्ति या कर्तृत्व का अहंकार या ममत्व नहीं होना चाहिए। देहबुद्धि के कारण अहंकार निर्माण होता है। उस भावना का सर्वत्र त्याग किया जाय। १८७.

तुवां शरीरपर नोहावें। कासनाजात सांडावें।
मग अवसरोचित भोगावें। भोग सकळ ॥ ८८ ॥

किसी भी हालत में देहात्मवादी मत बन। सभी इच्छाओं को त्याग दें। प्रसंग से प्राप्त जो सकल भोग होंगे उनका जरूर

स्वीकार कर।

एवं देहबुद्धि से पूरी तरह दूर होकर, किसी भी वासना के मोह से लिप्त न होकर कर्मों का अनुष्ठान यथाविधि किया जाय। अपनी वृत्ति अन्तर्मुख हो। आत्म स्वरूप में एकाकार हो, इससे कर्म बन्धन विवश नहीं करेगा। 'योगस्थ' होने से यह स्थिति अपने आप प्राप्त होती है। अन्तर्मुखता के कारण प्राप्त भोगों का उपभोग भी पापकारी नही होता। वहाँ भोग ही त्याग बनकर आता है क्यों कि निरामय बुद्धि उसके पीछे होती है। निरामय बुद्धि तथा विशुद्ध चित्त, जो अंतर्मुख हैं, शारीरिक भोगों में सर्वथा अनासक्त रहते हैं। इस अनासक्ति के द्वारा कर्मबन्धों से मुक्त होना सम्भव है। जो ज्ञानी है, वह इसी प्रभावकारी अवस्था को स्वीकार करते हैं। वहाँ किसी भी प्रकार अहन्ता या ममत्व नहीं रहता। कर्तृत्व की बाधासे साधक विचलित नहीं होता। १८८.

(युद्धयस्व)
आतां कोदंड घेउनी हातीं। आरुढ पां इये रथीं।
देई आलिंगन वीरवृत्ती। समाधानें।। ८९।।

अत: (हे पार्थ!) कोदंड हाथ में ले। रथ पर चढ। समाधानी से वीर-वृत्ति को आलिंगन दे।

अत: हे पार्थ! अब अपना धनुष्य हाथ में लेकर युद्ध के लिये इस रथपर आरोहण कर। सौभाग्यसे तेरी बुद्धि भी निरामय हो रही है क्योंकि स्वाभाविक कर्म से वह स्थिर होती है। साथही तुम्हारे शरीर पर तुम्हारा नियन्त्रण भी होचुका

है। कोदंड धारण करने से शरीर तथा इन्द्रियाँ नियन्त्रित हैं। वीर वृत्ति का प्रत्यक्ष साकाररूप तुम्हारे कोदंड में हैं। स्वधर्मयुक्त होकर इस वीरवृत्ति को आलिंगन दो। अपने स्वभाव का तथा स्वधर्म का यही आदेश है। समय का भाव देखकर, जानकर प्रसन्नता से इस वीरवृत्ति का अनुष्ठान करना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है। १८९.

जगीं कीर्ति रूढवीं। स्वधर्माचा मान वाढवीं।
हे या भारापासूनि सोडवीं। मेदिनी हे ॥ ९० ॥

जगत में अपनी कीर्ति को बढा। स्वधर्म का मान रख। इस जगत को (अधर्म के) भार से मुक्त कर।

स्वधर्म के बारे में तेरी बुद्धि निरामय हो रही है, अतः तू स्वधर्म को अपना ले। स्वधर्म का सम्मान कर। उसके सम्मान में तेरा सम्मान है। इस सम्मान को स्वीकार कर जिस प्रकार अहंकारी अपने अहंकार को नहीं छोडता, तथा उसे छोडा भी नहीं जाता, उसी प्रकार तू भी स्वधर्म के सम्मान के लिए कटिबद्ध हो। तू अपने श्रेष्ठत्व के सम्मान के लिये उद्यत हो। तेरा अपना श्रेष्ठत्व स्वधर्म के सम्मान को लेकर स्थिर रहे। जब तक तू इस सम्मान को ग्रहण करता रहेगा, सम्मान भी तब तक प्राप्त होता रहेगा। वीर वृत्ति गले में जयमाला पहनायेगी। इससे जो कुछ तू चाहेगा प्राप्त कर लेगा। विजय की दुंदुभी से तेरा स्वागत होगा। कीर्ति पताका दिगंत में फहराती रहेगी। कीर्ति तथा सम्मान दोनों प्राप्त होंगे। इसलिए स्वधर्मरूपी महान व्रत को अंगीकार कर।

तुझमें वीरवृत्ति है, उसके कारण मानों पृथ्वी को ही आकर्षण उत्पन्न हुआ है। वह भी चाहती है कि तू उसके बोझ को हलका कर। उसे इस बात का विश्वास भी है। उसपर इन लोगों द्वारा जो आक्रमण हुआ है, उससे त्राण करना अत्यावश्यक है। और तुम्हारा कल्याण होगा तथा पृथ्वी भी संतुष्ट होगी। तुम्हारी वीरवृत्ति सफल होगी। तुम्हारे द्वारा स्वधर्माचरण भी होगा। जो कार्य तुम्हारे लिए स्वभावतः ही प्राप्त हुआ है, उसे छोडने पर तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता। अतः तू प्राप्त युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ। १९०.

(विगतज्वर:)
आतां पार्था नि:शंक होईं। या संग्रामा चित्त देईं।
येथें हें वांचूनि कांहीं। बोलों नये ।। ९१ ।।

अब हे पार्थ ! नि:शंक बन। संग्राम की ओर ध्यान दे। और दूसरी कुछ भी बात मत कर !

अब हे पार्थ ! बिलकुल निशंक होजाओ। मन में संदेह मत करो। जीवन में प्राप्त हुए इस संग्राम को नि:शंक होकर यथार्थ रूप से जान लो। इन संघर्ष को ठीक रूप से समझो। संग्राम का संपूर्ण क्षेत्र यथार्थ रूप से निश्चित करो। जीवन का यह विशाल समर यदि बुद्धि–द्वारा यथार्थ अनुभूति से सुनिश्चित होगा, तो तुम्हारी पराजय नहीं हो सकती। यह जीवन का महान यज्ञ होगा, अतएव जो बात सुनिश्चित है, उसी को अपनाओ। वह तेरा साथी रहेगा और जीवन की सुस्थिति निर्धारित करेगा। १९१.

य मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो श्रद्धावन है, जो असूयारहित है, ऐसे लोग अगर इस मेरे मत का अनुष्ठान करते रहेंगे तो वे भी कर्मों से मुक्त होंगे।

(ये मे इति)
हें अनुपरोध मत माझें । जिहीं परमादरें स्वीकारिजे।
(श्रद्धावन्त इति)
श्रद्धापूर्वक अनुष्ठिजे । धनुर्धरा ॥ ९२ ॥

हे धनुर्धर ! यही मेरा निश्चित अभिप्राय है। वही सन्मानपूर्वक स्वीकार कर ! श्रद्धापूर्वक उसका अनुष्ठान कर।

हे धनुर्धर ! जो कुछ मैं कह रहा हूँ, उसमें विडम्बना नहीं है । किन्तु प्रांजलता है । उसकी अभ्यर्चना सिद्ध है । उसे सम्मान के साथ स्वीकार करो । उसका अनुष्ठान जीवन में करो । उसकाही अनुसरण करते जाओ क्यों कि सुदृढ विश्वास तथा निष्ठा श्रद्धा का अनुष्ठान है । श्रद्धा उस अनुष्ठान की देवी है । इसलिए उस देवी की प्रसन्नता अनुष्ठान की पूर्ति है। यह स्वधर्म यज्ञ सफल होगा । १९२.

तेही सकळ कर्मी वर्तत । जाण पां कर्मरहित ।
म्हणोनि हें निश्चित । करणीय गा ॥ ९३ ॥

इस प्रकार सभी कर्म करते हुए भी कर्म रहित होना संभव है । अतः यही निश्चित कर्तव्य है ।

जब यह अनुष्ठान जीवन में सर्वत्र होगा, तब हे पार्थ !

सभी प्रकार के कर्मों को करनेवाला भी कर्मरहित होगा। किसी प्रकार का कर्म उसे कर्तृत्व से बाधित नहीं कर सकता । वह बिलकुल निर्बंध तथा निर्द्वंद होकर कर्मों में विचरण करता रहेगा । इस लिये यह जो कुछ मैं कहता हूँ उन सबका आचरण करो। १९३.

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

किन्तु जो असूया रखनेवाले इस मत का अनुष्ठान नहीं करते, वे सभी प्रकार के ज्ञान के लिए अपात्र तथा मूढ हैं । यह तू जान ॥ ३२ ॥

(ये त्विति)
नातरी प्रकृतिमन्त होउनी । इन्द्रिया लळा देउनी ।
जें हें माझें मत अव्हेरुनी । वोसंडिती ॥ ९४ ॥

जो प्रकृति में आसक्त रहकर इन्द्रियो का (लाड प्यार) लालच करते हैं और मेरा यह वचन अनादरपूर्वक ठुकराते हैं–

जीवन की किसी भी अवस्था में प्रकृति की दासता स्वीकार करना उचित नहीं । प्रकृति में आसक्त रहना वस्तुतः मोह है । देहकी आसक्ति सर्वथा उचित नहीं । देहबुद्धि वास्तव में व्यामोह है । जीवन की असली समस्याओं से वह हमें दूर ढकेलती है । इसी देहासक्ति में इन्द्रियों की अभिलाषा बढती रहती है । उसे उद्दीप्त किया जाता है । उसकी इच्छा बढती है और वह मानव जीवन की वास्तविक सत्ता को ठुकराती है । कुछ का कुछ ही बनता है । उसकी सहजता नहीं रहती । यह

न होने से ही उन्मत होकर मेरे वचन का अनुसरण नहीं करता । १९४.

जे सामान्यत्वें लेखिती । अवज्ञा करुनी देखती ।
कां हां गा अर्थवाद म्हणती । वाचाळपणें ।। ९५ ।।

जो इसे सामान्य कहते हैं या वाचाल होकर अर्थवाद कहते हैं और इस कथन की अवज्ञा करते हैं –

जो ऐसे लोग हैं, वे निःसंशय भ्रम में भटक रहे हैं। मोह मे फँसे हुए हैं। वे अपने को ही भूल वैठे हैं। इससे वे मेरे कहने का भाव नहीं समझ सकते । सत्य नहीं अपनाते । वे इस मत को सर्वथा सामान्य समझते हैं । वस्तुतः उन्होंने अपने जीवन में विषयों का महत्व बढाया है । उस प्रभाव से विषय तो छूटा, किंतु ' विष ' शेष रहा । इससे इन की दृष्टि तथा जीवन भी विषैले बन गये हैं । वे जो कुछ देखते हैं, उसे विषय ही समझते हैं । अपने अहंकार को छोडना नहीं चाहते । उसके कारण वे अपनी दृष्टि को बहुत महत्व देते हैं। उसमें ही विलक्षण योग्यता मानते हैं। इससे दूसरों की दृष्टि सामान्य ही रहती है। वे एक प्रकार से तुच्छता का भाव प्रगट करते हैं। उनका अपना मत ही सर्वश्रेष्ठ तथा दूसरों का मत निकृष्ट होता है। इस प्रकार अहं से विकृत बनी मनोवृत्ति त्याज्य है ।

संयत जीवन अपनी सत्ता स्पष्ट करता है। वहाँ एक प्रकार का आज्ञाकारी भाव होता है। जीवन की आज्ञा वहाँ यथार्थरूप में परिपालित होती है। स्वेच्छाचार को जिन्होंने

अपनाया है, वे आज्ञा के इस भाव को क्या समझेंगे ? 'आज्ञा' का तत्व जीवन की सत्तामें निहित है। जो सत्ता जानता है वह आज्ञा का तत्व भी समझता है। जहाँ केवल अवज्ञा है, वहाँ मूढता के सिवा हम और क्या पायेंगे ? अवज्ञा का फल अज्ञान को ही बनाये रखता है। जो आज्ञा का अर्थ समझता है, वह ज्ञान को भी समझता है, उसके तत्व को अपनाता है। किन्तु जहाँ अज्ञान ही ज्ञान है, वहाँ ज्ञान कहाँ से आयेगा ? अज्ञान से ही अवज्ञा बढती है। अश्रद्धा तथा असूया से युक्त लोग अज्ञान में फँसते हैं। किन्तु यह फँसना भी उनके लिए प्रिय होता है। यह उन्हें भाता है।

इनका यह आचरण देखकर मेरे अंतःकरण में करुणा होती है। किन्तु श्रद्धा-हीन तथा मूढ लोग विश्वास नहीं करते। मैं निःसंशय तथा स्पष्ट कहता हूँ, वे उसे अर्थवाद कहते हैं। मिथ्या या भ्रामक समझकर उसका लाभ ही खो बैठते हैं। उनकी इस दुर्दशापर मुझे दया आती है। १९५.

(सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि)
ते मोहमदीं भुलले। विषयविखें वारले।
अज्ञानपंकीं बुडाले। निभ्रांत मानीं ॥ ९६ ॥

ऐसे लोग मोह मद से भ्रांत हुए। विषय रूप विष से घिर गये। अज्ञान के कीचड में फंस गये। यह निश्चित ही है।

वस्तुतः यह बात कितनी स्पष्ट है कि जो कुछ समझ में नहीं आता उसके ज्ञान के लिए तत्पर रहना किन्तु ये मूढ तत्परता खो बैठे हैं। 'ज्ञान' को 'अज्ञान' समझ बैठते हैं।

उनपर मोहरूपी मदिरा का प्रभाव हो चुका है। वे न कुछ समझते न कुछ समझेंगे। केवल विनाश को ही अपनायेंगे। उसमें ही सुख मानेंगे। विषयों के 'विष' का ही उन्होंने पान किया है। अतः ऐसी अवस्था में उनका स्थिर होना असंभव है। अज्ञानरूपी कीचड में डूबे हुये ये कीडों से भी क्षुद्र जीव, जीवन का सार सामने आने पर भी मुंह मोडकर बैठे हैं। उनके दुर्भाग्य को और क्या कहा जाय ? १९६.

(नष्टान्)
जैसें शवाच्या हातीं दिधलें। देखें रत्न वायां गेले।
नातरी जात्यंधा पाहिलें। प्रमाण नोहें ॥ ९७ ॥

किसी जन्म जात अन्धे से देखी हुई वस्तु प्रमाण नहीं हो सकती। प्रेत के हाथ में रखे हुए रत्न निरर्थक ही है, उसी प्रकार –

ऐसी मूढ अवस्था में रहने वाले ये लोग अपने में बिलकुल जड हीं बनते हैं। अपनी जडता बनाये रखते हैं। ऐसे चेतानाहीन लोगों से जीवन के तत्वों का अवगाहन कैसे हो सकता है ? इस चेतनाहीन शरीर को चैतन्ययुक्त रत्न की कीमत कैसे मिल सकती है ? न वे उस रत्न को समझेंगे, न उसे परखेंगे। मोह रूपी अन्धेरे में भटकते हुए इन लोगों को अन्धेराही भाता है। प्रकाश का मूल्य वे नहीं जानते। बुद्धि का तेज उन्हें प्रभावित नहीं कर सकता। हम यों भी कह सकते हैं कि उनकी बुद्धि क्षमता संपन्न नहीं। वह न तो ग्रहण कर सकती, न त्याग कर सकती है। उसकी सत्ता ही मानो लुप्त होगई है। उसका

प्रकाश अन्धेरे से आवृत्त है। इसी कारण इन लोगों के सामने यह मेरा मत जो कि साक्षात् ज्ञान देनेमें समर्थ है, किसी प्रकार का प्रभाव नहीं कर सकता। इन मूढों के मन पर प्रभाव नहीं होता। वे अवज्ञा का भाव बनाये रखते हैं और चिन्तामणि की प्राप्ति के पश्चात भी दरिद्र बने रहते हैं।

जो जन्म से अन्धा है, वह स्वयं प्रकाश नहीं देख सकता। निश्चय नहीं कर सकता। अतः उसके देखने का प्रमाण व्यर्थ है। सबेरा हुआ, रात हुई आदि बातें उसके लिए प्रत्यक्ष नहीं होती। प्रत्यक्ष न होने से उसका प्रमाण वह दे नहीं सकता। १९७.

कीं चन्द्राचा उदय जैसा। उपयोग नोहे वायसा।
मूर्खा विवेक हा तैसा। रुचेल ना ॥ ९८ ॥

चन्द्रमा का उदय कौए के लिये किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं। उसी प्रकार मूर्ख आदमी को यह विवेक क्यों भायेगा ?

यह आवश्यक है कि जीवन की यथार्थता ज्ञात हो। सहजता में जीवन की समस्याएँ हल होती हैं। सहजता जीवन के तत्वों को साक्षात कराती है। इस सहजता को जो वास्तव में स्वधर्म ही है, हमारी धूर्त वृत्ति बाधित करती है। धूर्तता में स्वार्थ की प्रेरणा है। उसमें लोभ है। जो इस वृत्तिसे पूर्ण है, वह सहजता को नहीं अपनाता। सहजता में निःस्वार्थता है। स्वधर्म का पालन उसके द्वारा हो भी नहीं सकता। उसे स्वधर्म नहीं भाता। धूर्त वृत्ति में चंचलता है। चन्द्रमा का प्रकाश शांत है। जो धूर्त है वह अपने स्वभाव के विरुद्ध शांत चन्द्रमा

को कैसे पसन्द करेगा ? धूर्त कौआ चन्द्रमा का सौन्दर्य समझ नहीं सकता। उसके शांत भाव को नहीं अपनाता। चकोर ही एक है जो चन्द्रमा का अमृत पीकर शांत, तृप्त तथा स्वस्थ होता है। कौए के लिए चन्द्रमा का उदय महत्व की बात नहीं। इसी प्रकार धूर्तलोग मेरा कहना स्वीकार नहीं करते। स्वीकार करने की उनकी योग्यता है ही नहीं। किन्तु उन्हें भी चाहिए कि वे भी अपनी योग्यता बढायें। अपना जीवन संयत करें। हम यों कह सकते हैं कि जिस प्रकार विवेक, मूर्खों को नही भाता, उसी प्रकार इन लोगों का यह आचरण है। वास्तव में विवेक के बिना जीवन की सहजता स्पष्ट नहीं होती। स्वधर्म के द्वारा ही वह सम्भव होगी। किन्तु ये मूर्ख स्वीकार करेंगे तब न ? १९८.

तैसे तें पार्था। जे मूर्ख या परमार्था।
तयासि संभाषण सर्वथा। करावे ना ॥ ९९ ॥

इस परमार्थ को लेकर, जो मूर्ख हैं उनसे कदापि भाषण तक करना नहीं चाहिये।

हे प्यारे पार्थ, इस श्रेष्ठ प्रकार के अर्थ को परमार्थ द्वारा ग्रहण करना युक्तिसंगत ही नहीं, परमावश्यक है। परमार्थ के बारे में ही जो मूर्खता धारण करते हैं, उस से विमुख होते हैं, वे वास्तव में अपनी मूर्खता को ही महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि "क्या करूँ ? यह तो समझमें नहीं आता !" उनका ऐसा कहना एक प्रकार से आत्मवंचना है। जो परमार्थ को केवल गूढ कह कर स्तब्ध रहे, उनके साथ बातचीत करना निरर्थक

है। जीवन की सहजता सिद्ध करने में किसी भी प्रकार की गूढता नहीं है किन्तु जो उसकी वास्तविकता देखना चाहते हैं वे अपने स्वभाव को नहीं अपनाते। हमारी असली समस्या केवल यही है। वे अपने स्वधर्म को नहीं पासकते। जब स्वाभाविकता आयेगी तब स्वधर्म प्राप्त होगा। स्वधर्म के अनुसरण से ही, परमार्थ सफल होता है। मूर्ख इसे स्वीकार नहीं करते। उनके साथ क्या बोलें और कैसे बोलें ? १९९.

(अचेतसः)

म्हणोनि ते न मानिती। आणि निन्दाहि करूं लागती।

सांगे पतंग काय साहती। प्रकाशातें ॥ २०० ॥

इस लिये वे यह स्वीकार नहीं करते और केवल निन्दा करते हैं। यह बता कि क्या कभी पतंग प्रकाश को सह लेगा ?

ऐसे लोग, 'समझ में नहीं आता', कहकर चुप नहीं बैठते। जो समझ में नहीं आता, उसके सम्बन्ध में ही, कुछ का कुछ कह देते हैं। इन्हें चाहिए कि जो समझ में नहीं आता, उसे समझने की बार बार चेष्टा करें। निन्दा करना या जो मुंह में आवे बकना क्या कभी उचित है ? ये इस ज्ञान को कह नहीं सकते। ज्ञान की गरिमा उनके मन में मत्सर पैदा करती है। परमार्थ के महत्व को अपनी सत्ता की अपेक्षा श्रेष्ठ देखकर ये संतप्त होते हैं। जिस प्रकार प्रकाश की श्रेष्ठता न सहकर, पतंग उसपर कूद पडता है और अपना सर्वस्व उसमें खो देता है। २००.

पतंगा दीपीं आलिंगन । तेथें सोसी अचूक मरण ।
तेविं विषयाचरण । आत्मघात ।। १ ।।

पतंग दीपक का आलिंगन लेता है और मरण को प्राप्त करता है उसी प्रकार विषयाचरण करके आदमी आत्मघात कर लेता है ।

विषयों की आसक्ति मूर्खों के जीवन में पायी जाती है। वे विषयों का विष ही ग्रहण करते हैं । उसका परिणाम अटल है । विषयासक्ति आत्मनाश का कारण है । विषयों को ठीक ठीक समझकर अनासक्त भाव से उसका ग्रहण करना दूसरी बात है । किन्तु लोग अनासक्त भावको ग्रहण नहीं करते । इससे वे मरण ही को वरण करते हैं । वह जीवन का उद्धार नहीं, अध:पात है । आत्मघात है । जीवन की स्वाभाविकता, सहजता, वहाँ नहीं पायी जाती । वृत्तियों का उदात्तीकरण वहाँ कैसे संभव है ? आसक्ति में स्वाभाविक जडता है । वह जडता हमें मौत की ओर अग्रसर करेगी । इससे आत्मवंचना होती है । जिस प्रकार पतंग दीपक की लौ पर कूद पडता है, और आत्मनाश कर लेता है, उसी प्रकार हमारे जीवन का सर्वनाश इस आसक्ति में है । दीपक का आलिंगन उसके प्रति आसक्ति के ही कारण होता है । अत: यह आवश्यक है कि हम अपनी वृत्ति बनाये रखें । स्वभाव जान लें । अपनी सहजता स्वीकार करें । इसके द्वारा ही जीवन में रम्यता संभव है, हमारे जीवन की कहानी रमणीयता में विलसित होगी । जीवन की सफलता सदा के लिए साथ रहेगी । २०१.

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। ३३ ।।

जो ज्ञानवान है, वह भी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है। सामान्य लोग तो प्रकृति के अधीन हैं ही । यहाँ कर्मों का-विषयों का निग्रह कैसे संभव है ? ।। ३३ ।।

(सदृशं चेष्टत इति)
म्हणोनि इन्द्रियें एकें । जाणतेनि पुरुषें ।
लळावीं ना कौतुकें । आदिकरुनी ।। २ ।।

किसी भी हालत में ज्ञानी आदमी को लाड प्यार करके इन्द्रियों की आसक्ति बढाना उचित नहीं ।

जीवन में लाड प्यार से ही बुरी आदतें पड जाती हैं । जहाँ कुछ कारण न होनेपर निरर्थक लाड प्यार किया जाता है, वहाँ दुष्प्रवृत्तियाँ आसानी से घर बना लेती हैं । इन्द्रियों की अधीनता लाड प्यार के कारण बढ जाती है । इससे हम अपने ही पैरों में जंजीरें बंधाते हैं । एक प्रकार की परतन्त्रता में फँसते हैं । इन्द्रियों के इस अनर्थसे, जीवन की मूल समस्या को हल करने की बात कोसों दूर रहती है । 'द्विजत्व' जीवन की श्रेष्ठ अवस्था है । प्रकृति के कारण हम पहली बार जन्मते हैं, किन्तु जीवन दर्शन से नया जन्म पाते हैं । यह नया जन्म, यह दर्शन ही जीवन का आदि और अन्त स्पष्ट करता है । निर्भय तथा स्वतन्त्र बनाता है । इन्द्रियों के अधीन होने से हम द्विजत्व खो बैठते हैं । जीवन 'योग' होने की अपेक्षा 'भोग' बनता

है। भोग हमारी प्रवृत्ति बन जाती है। मन अपने में ही पूर्णता मान बैठता है। मन इस प्रकार मानता है कि मैं ही सब कुछ हूँ। सर्व व्यापक हूँ। मेरे लिये ही सब कुछ है। इससे यह अधीनता जीवन का नया आलोक नहीं दीख पाती। सभी चक्र उलटे घूमने लगते हैं। वास्तव में इन्द्रियाँ भी परतन्त्र हैं। उनकी सार्थकता तथा सफलता जीवन की फल प्राप्ति में है, न कि भोग में। न केवल उपभोग लेने में। इन्द्रियों को पुरुषार्थ आवश्यक है। 'पुरुष' की प्राप्ति में सहायक होने में ही पौरुष है। केवल यही पुरुषार्थ है। जीवन के तत्वोंका साक्षात्कार किये बिना पौरुष नहीं मिलता। हम तो जीवन की यह जड ही काट डालते हैं, तब निश्चय ही सब कुछ खो बैठते हैं। सत्य दर्शन एक ऐसा उपाय है, जिसे प्राप्त करने पर सब कुछ पाने का श्रेय प्राप्त है। इसके बिना सब कुछ व्यर्थ है। सत्य इसी लिये सत्य है कि संज्ञा उसका स्वभाव है। यह स्वभाव जब तक हम नहीं जानते तब तक हमारे 'स्वभाव' से क्या लाभ? हम अपने व्यक्तित्व के मूल हेतु को ही नहीं पहचानते। उसका अधिष्ठान नहीं देख सकते। इससे हमारा जीवन अमृतत्व नहीं पाता। हम दिव्य जीवन के अधिकारी नहीं हो सकते। अमृतत्व की उपासना नहीं होगी तो फिर यह जीवन क्या जीवन है? इसे हम मरण भी कैसे कहें? यह मरण न होकर भी मरण है।

इन्द्रियों का पुरुषार्थ नष्ट होने से जीवन की अधोगति होती है। मन की सत्ता स्वीकार की जाती है। बुद्धि सत्य की खोज में नहीं पडती। आलस्य, मोह आदि विकारों से जीवन

का क्रम बदल जाता है । उसकी साधना नष्ट होती है और इन्द्रियों की आराधना प्रारम्भ होती है । सत्य स्पर्श से पावन होने की अभिलाषा द्वंद्वों के भँवरों में घूमने वाले मन को नहीं हो सकती । विचारों की गति ही मर्यादित रहती है । बुद्धि की क्षमता कम होती है । इस लिये साधना की ओर अग्रसर होना असम्भव हो जाता है । अतः आवश्यक गुणों का निर्मूलन होने लगता है । सत्य के संवेदन को प्राप्त कराने की कामना का अभाव होजाता है । बुद्धि पुरुषार्थ को नहीं चाहती । वह भोग को स्वीकार कर लेती है । वही उसके लिए पुरुषार्थ बन जाता है ।

अमृतत्व की उपासना जीवन की श्रेष्ठ साधना है । जीवन केवल मरण की ओर अग्रसर होने के लिए नहीं । शरीर का वास्तविक अर्थ यही है कि वह क्षण क्षण नष्ट होता है । वह काल के अधीन है । क्या देह के उपभोग और अन्ततः मरण में सब कुछ आ जायेगा ? जब तक सत्य का स्पर्श नहीं होता तब तक देह की महत्ता हम नहीं पहचान सकते । उसकी महत्ता सत्य की ओर अग्रसर होने में है । किन्तु हम देह को इतना महत्व देते हैं, कि वही सत्यसा प्रतीत होने लगता है । इस से सत्य का संकल्प छूट जाता है । इससे मन का सामर्थ्य भी कम हो जाता है । बुद्धि भी अपना कर्तव्य भूल बैठती है । मन इस कृत्रिम अवस्था के कारण सत्यसुख को नहीं समझ सकता । वह इन्द्रियों को ही अपनाता है, सुख समझ कर उसी में आस रखता है । दुःख को ही अपनाकर उसे सुख समझता है । एक प्रकार

से वह दैन्य को अपनाता है। उसमें सुख समझता है। सुख क्या है, उसकी अनुभूति कैसी है? आदि का विचार तक नहीं सूझता। इस विकल मन में सुख भी विफल होता है। जहाँ जायेगा वहाँ विकलता ही पायेगा। दुःख ही उसे भायेगा। दुःख से विकल होकर फिर विकलता में डूबता जायेगा। चेतना तथा विवेक का कुछ भी प्रभाव नहीं रहेगा। एक एकार की जडता जीवन में आ जायेगी। मनोबल या संपन्नता वहाँ कहाँ से आयेगी? दुःख की तीव्रता तथा कटुता अनुभव करने पर भी उसके संमोहन में फिर से घेरे रहने की दुष्प्रवृत्ति क्षीण मनोबल का फल है। इस संमोह को हटाकर सत्य से पुलकित और चेतन होने की कामना निर्माण होनेपर यह देखा जाता है कि मानव फिर से मोहित होता है। परतन्त्र रहता है। एक बार इन्द्रियों की अधीनता स्वीकार करने से वह सदा के लिए उसका पीछा नहीं छोडती। उससे पिंड न छूटने से मनुष्यत्व का यथार्थ उपयोग नहीं होता। साधना संभव नहीं होती। योग–वियोग ही रह जाता है। दैन्य उसे अपनाता है।

अतः हे पार्थ! किसी भी अवस्था में यह आवश्यक है कि हमें इन्द्रियों की अधीनता स्वीकार नहीं करनी चाहिए। उन्हें संयमित करे। समय असमय पर लाड प्यार से उनकी भोग वृत्ति को उत्साहित न करो। पुरुषार्थ के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले साधकों को तथा ज्ञानियों को इन्द्रियों की अधीनता से सदा के लिए दूर रहना चाहिए। २०२.

हां गा सर्पेसीं खेळों येईल। कीं व्याघ्रसंग सिद्धी जाईल।
सांगें हळाहळ जिरेल। सेविले काई ।। ३ ।।

क्या सर्प के साथ क्रीडा होगी ? क्या व्याघ्र का सहवास सुलभ होगा ? क्या हलाहल के सेवन करने पर वह पचेगा ?

इन्द्रियों की विषयपिपासा निःसंशय दृढ और कभी न बूझनेवाली है। वह अविकल पिपासा है। चाहे उसका कितना ही उपभोग कर लो किन्तु प्यास बनीही रहेगी। ऐसी अवस्था में इन्द्रियों के साथ खेलने से क्या लाभ ? लाड प्यार से इन्हें प्रोत्साहित करने से क्या लाभ ? अकारण उन्हें चेतना देनेसे हम क्या पायेंगे ? इन्द्रियाँ स्वयं अपनी पूर्णता को न पा सकती है, न तृप्त होती है। विषयों का अनुराग छूटना असम्भव है, तो फिर उनका पीछा करने में हानि के अतिरिक्त और क्या हाथ आयेगा ? जिस अनुभूति का परिणाम केवल दुःख है, उस अनुभूति को गले लगाने में क्या औचित्य है ? ऐसी अनुभूति निःसंदेह हानि ही करेगी। क्या कोई सर्प से खेलता है ? सर्प से खेलने में जीवन की हानि है। इन्द्रियों का लाड प्यार मानों काले सर्प से खेलना है। हम उसके लिए भक्ष्य बन जायेंगे। अतः उनके साथ उपभोग की प्रवृत्ति बनाये रखना बहुत अनुचित है। विष की परीक्षा करने के लिये अपने जीवन को समर्पित करने की क्या आवश्यकता है ? जीवन से बढकर परीक्षा नहीं है और विष का परिणाम भी तो निश्चित है। व्याघ्र के आगे रहना कहाँतक लाभदायक होगा ? व्याघ्र का आसुरी तथा तामसी स्वरूप हमें ग्रास बनाये बिना कैसे रहेगा ? हलाहल का

पान करना क्या उपयुक्त है ? उसके पीने से क्या हम उसे पचा सकते हैं ? उसे पचाने के लिये शिव का सामर्थ्य चाहिए। वह हरेक को कैसे मिल सकता है ? इन्द्रियों के प्रति आसक्ति से हम इन्द्रियों की अधीनता ही स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में एकबार खेल शुरु करने पर उसका बन्द करना हमारे हाथ नहीं रहता। २०३.

देखें खेळतां अग्नि लागला।
मग तो न सरे जैसा उधवला।
तैसा इन्द्रियां लळा दिधला। भला नोहे ॥ ४ ॥

एक बार अग्नि (क्रीडा करते हुए भी) के धधकने पर क्या वह बुझ जायेगा ? उसी प्रकार इन्द्रियों का लाड प्यार भी योग्य नहीं।

एक बार अग्नि के धधकने पर क्या वह बुझ जायेगी ? इससे बढकर और क्या हास्यास्पद विषय होगा कि हम आग में ईंधन डालें। खेल खेल में भी क्यों न हो, किन्तु अग्नि को छूने से क्या वह अपना कार्य नहीं करेगी ? अतः किसी भी दशा में उससे कोसों दूर रहना उचित है। इन्द्रियों को, लाड प्यार से उनके उनके विषयों में प्रवृत्त करना हानिकर है। २०४.

येऱ्हवी तरी अर्जुना। या शरीर पराधीना।
कां नाना भोगरचना। मेळवावी ॥ ५ ॥

पराधीन शरीर के लिये विविध प्रकार के भोग क्यों कर हम जुटायें ? हे अर्जुन ये भोग किस काम के हैं ?

हे प्रिय अर्जुन ! हमारा शरीर अपने अधीन नहीं। उसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय सब कुछ परतत्व पर अवलंबित है। वह सर्वथा पराधीन है। पराधीन शरीर के लिये नाना प्रकार के उपयोग तथा उपभोग जुटाने से क्या लाभ है ? हम किस लिये उन्हें जुटा रहे हैं ? इन्द्रियों को प्रेरित करके यह क्रीडा क्यों करते हैं ? २०५.

आपण साहसें करुनि बहुतें। सकळहि समृद्धिजातें।
उदयास्त या देहातें। प्रतिपाळावे ॥ ६ ॥

कहां तक कष्ट करके इस पराधीन शरीर को समृद्धि से परिपुष्टे करें ? क्यों कि इसे जन्म-मृत्यु है ही।

बहुत ही कष्ट उठाकर हम सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। क्या उसके द्वारा इस शरीर के लिए भोग उपस्थित करना ही ईप्सित है ? शरीर नि:सन्देह नाशवान है। उसकी उत्पत्ति विनाश के लिए हैं। जो निर्माण होता है, वह नष्ट भी होता है। जो नष्ट होता है उसकी उपासना तथा अभ्यर्थना, क्या लाभकारी होगी ? क्या देह का पोषण उसे अमर बनायेगा ? सुबह से शाम तक कष्ट उठाकर केवल शरीर को सन्तुष्ट करने का प्रयास नि:संदेह अनुचित है। २०६.

सर्वस्वें शिणोनि येथें। अर्जवावी संपत्तिजातें।
तेणें उदयधर्म सांडुनी देहाते। पोषावें काई ॥ ७ ॥

स्वधर्म को छोड कर देह को परिपुष्ट करना, अपना सर्वस्व गंवाकर विविध प्रकार की संपत्ति जुटाना, इत्यादि से

क्या होगा ?

इस देह की उपलब्धि ही सबसे बडी सिद्धी है। उसके द्वारा इन्द्रियों का भरण-पोषण करना एक प्रकार का आत्मघात है। कष्ट उठाकर जो कुछ हम पाते हैं, वह केवल इन्द्रियों की तृप्ति अथवा देह की परितुष्टि के लिए नहीं है। उसका विनियोग स्वधर्माचरण के लिये ही होना चाहिए। स्वैराचरण सबको भाता है, अतः इन्द्रियों की विजय उनके जीवन में पायी जाती है। स्वधर्म को छोडकर देह की पुष्टि का प्रयत्न करते रहना केवल अविवेक है। २०७.

(प्रकृतिं यान्ति भूतानीति)
मग हें तंव पांच मेळावा। सेखीं अनुसरेल पंचत्वा।
ते वेळीं गेला कें गिवसावा। शीण आपला ॥ ८ ॥

पांच तत्वों के संयोग से बना हुआ यह शरीर अन्त में पंच तत्व में ही लीन होगा। तब हम अपनी काम का श्रेय कैसे पायेंगे ?

किसी भी अवस्था में देहतुष्टि हमारा कल्याण नहीं कर सकती। क्या साधन कभी साध्य हो सकता है ? देह के द्वारा स्वधर्म का सेवन सर्वथा उचित है। उसका विनियोग इस परम कल्याणकारी मार्ग के लिए ही उचित है। अन्यथा हम जो कष्ट उठायेंगे, उनसे कुछ भी लाभ नहीं होगा। वे कष्ट सदा के लिए व्यर्थ जायेंगे। यह शरीर वास्तव में पांच तत्वों के संयोग से बना है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है ही कहाँ ? समय

आने पर वह पंचतत्वों में लीन होगा। उसके नष्ट होने के पश्चात् क्या कुछ पाया जा सकता है? जिसका भरसक पोषण किया, वह अंत में नष्ट हो गया। ऐसे विनाशी शरीर के लिए, किये गये कष्टों का फल क्या और कैसे प्राप्त होगा? उसके नष्ट होनेपर तो कदापि नहीं। तो फिर स्वधर्म छोडकर उसकी तृप्ति के लिये क्यों मारा मारा फिरते हैं? क्या वह हमारा दुःख दूर कर सकता हैं? २०८.

म्हणोनि केवळ देहभरण। तें जाण उघड नागवण।
या लागीं तेथें अंतःकरण। देयावेंना ।। ९ ।।

अतः केवल देह-पुष्टि का प्रयत्न एक प्रकार का नाश ही है। किसी भी हालत मे उस ओर ध्यान मत दो।

अतः यह निश्चित है कि केवल देह-पुष्टि के लिये प्रयत्न करना जीवन का नाश करना है। स्वधर्म के द्वारा अपना परम कल्याण कर लेना जीवन का लक्ष है। उसके लिये ही देह की प्राप्ति है। इसे भूल कर यदि हम केवल उसे ही गले लगायेंगे तो बाद को अपनी मूर्खता पर पछताना पडेगा। स्वधर्म के द्वारा विश्व व्याप्त तेजोमय तत्व को अपनाने में ही जीवन की पूर्णता है। स्वधर्म यज्ञ से जीवन के तत्वों का अवगाहन करके, उनके सत्य का साक्षात् करना ही बडी साधना है। इसके संभव होनेपर ही दुःख दूर हो सकता है। जिसके द्वारा वह चैतन्य वह जीवों का विभाव, परम तत्व अपना बनेगा, केवल उसे ही करना योग्य है। अपना स्वभाव यही है। उसे न पहचानने के कारणही माया वश हम लोग उसे अपनाते नहीं। अतः यह लालसा

छोडकर उसको अपनाने में ही अग्रसर होना चाहिए। २०९.

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियों को विषयों के प्रति प्रीति तथा द्वेष स्वाभाविक है। उनकी अधीनता हम कभी न स्वीकारें। क्यों कि ये दोनों (इस महान) मार्ग में बाधा निर्माण करनेवाले हैं ॥ ३४ ॥

(इन्द्रियस्येति)
येन्हवीं इन्द्रियांचिया अर्था। सारिखा विषय पोषितां।
संतोष करुनियां चित्ता। आपजेल ॥ १० ॥

अन्यथा इन्द्रियों के अनुकूल होकर विषयों के भोग से देह को पुष्ट करने से मन चंचल रहेगा। चित्त को संतोष कभी नहीं होगा।

विषयों के सेवन से इन्द्रियों की तुष्टि असम्भव है। इस जगत् में कष्ट उठाकर केवल देहके भरण पोषण का ही विचार करना अविवेक है। क्योंकि उसका विनाशी स्वभाव अन्त में हमें किसी भी प्रकार लाभकारी नहीं। जीवन के उच्च ध्येय को अपनाकर इन्द्रियों की माया से दूर रहनाही उचित है। इस परतत्व को अपने जीवन में प्रत्यक्ष करने से दिव्य अनुभूति होती है। केवल यही महान् मार्ग है। इस रास्ते में रोडे अटकानेवाली किसी भी वस्तु को दूर करनाही चाहिए। जब शाश्वत सत्य अपनाया जायेगा तब किसी भी प्रकार की चिन्ता न रहेगी। अतः इन्द्रियों से लाड, प्यार, दुलार करते रहने की

अपेक्षा, संयम करके जीवन के सर्वश्रेष्ठ रास्ते पर अग्रसर होना, सदाके लिए कल्याणकारी है।

हम यह देखते हैं कि इन्द्रियों की इच्छा तथा प्रीति के अनुसार विषय प्राप्त होनेपर ही मन संतुष्ट होता है। विषयों के प्रति प्रीति तथा द्वेष इन्द्रियों का विशेप धर्म है। उनमें विषयों की ओर खींचने की क्षमता है। इन्द्रियों के राग-द्वेष यथार्थ रूपसे समझकर ही उनके द्वारा विषयों को ग्रहण करना उचित है। अन्यथा इन्द्रियों की क्षमता भोग की ओर हमें बढायेगी। संमोह को हम जानने में असमर्थ हैं। ऐसी अवस्था में इन्द्रियों की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय क्या रहता है? मन भी मोहित होता है। वह भी विषयों के झूले में बैठकर झूलना चाहता है। यह पराधीनता भी उसे बहुत भाती है। वृत्ति के इस मोह में वह अपना सब कुछ भूल जाता है। इस दीन अवस्था को हम और क्या कहेंगे? न यहाँ अपनी प्रीति है न किसी प्रकार की सच्ची प्रतीति। आभास मात्र है, जो हमें प्रीति के विकृत भावों में झुलाता रहता है। जीवन की समस्यायें न यहाँ हल होती हैं न उनसे छुटकारा पाया जाता है। विकारों की भावना में जीवन की परिणति कैसे सम्भव है? यदि हम इसी को परिणति कहें तो वह निश्चय ही भ्रम है। २१०.

परि तो संवचोराचा सांगातु। जैसा नावेक स्वस्थु।
जंव नगराचा प्रांतु। सांडिजेना बापा॥ ११॥

इन्द्रियों की संगति मानो चोरों की ही संगति है। वे

ऊपर से शिष्ट किन्तु अंतःकरण से दुष्ट है। [जब जंगल में (नगर के बाहर) हम जायेंगे तब उनका असली रूप स्पष्ट होगा]। नगर के अन्दर ही ये शिष्ट हैं।

इन्द्रियों के द्वारा मन मोहित होता है। उस मोह में चित्त सन्तुष्ट होता है। वास्तव में वह न तुष्टि है न पुष्टि। वह केवल आभास मात्र है। वह निश्चय ही वंचना है। इस वंचना को हम पहचानते नहीं। इससे हम इन्द्रियों को भी देवत्व दे बैठते हैं। वे बडी महान और अच्छी हैं, ऐसा हम मानते हैं। उनकी भलाई हम स्वीकार करते हैं। यह वस्तुतः मोह है। इन्द्रियों के विकारों का यथार्थरूप, न जानने का यह परिणाम है। इन्द्रियाँ भी अपना रूप तब तक स्पष्ट नहीं करतीं जब तक हम उनके अधीन नहीं होते। एक बार अधीन में होनेपर उनसे पीछा छूटना बहुत ही कठिन है। उनके चंगुल में फँसने पर वे मोहमयी इन्द्रियाँ जीवन का श्रेष्ठ भाव नष्ट करायेंगी।

वस्तुतः इन्द्रियों का स्वरूप स्पष्ट होना उचित है। इसलिए हम उनके सम्बन्ध में अपनी बुद्धि से प्रश्न करते हैं। वस्तुतः इन प्रश्नों के द्वारा बुद्धि पर कितना प्रभाव या दबाव डालते हैं। बुद्धि भी एक प्रकार की इन्द्रिय है। वह भी मोहित हो सकती है। वह जब तक अपने विशुद्ध भाव को स्पर्श नहीं करती तब तक वह क्या उत्तर देगी ? उसका उत्तर भी वही होगा जो इन्द्रियों के लिये सदा अनुकूल है। बुद्धि भी इस प्रकार इन्द्रियों के अनुकूल रहती है। ऐसी अवस्था में इन्द्रियों का सामर्थ्य कई गुना बढता है। उनका प्रभाव और भी तीव्र

होता है। उसकी प्रबलता अजेय होती है। इस अवस्था में वे मन चाहा बर्ताव करेंगी इसमें क्या सन्देह है? वे कभी हमारी अधीनता नहीं स्वीकार करेंगी। तो फिर परमार्थ की ओर अग्रसर होना कितना कठिन है।

इन्द्रियों की संगति मानों चोरों की ही संगति है, चोरों के साथ चलना है। चोरों का सद्भाव बनावटी है। वास्तव में वे दुष्टवृत्ति के हैं। फँसाना ही उनका स्वभाव है। अपने स्वभाव के अनुसार वे फँसाने में सिद्ध हैं। किन्तु वे भी समय देखते हैं। अवसर ढूंढते हैं। जब तक हम उनके पूरे अधीन नहीं होते, तब तक वे अपना स्वभाव नहीं दिखायेंगे। वे सौजन्ययुक्त बर्ताव करेंगे। हमारा अच्छा साथ देंगे। जबतक हम गांव में हैं, अपने अधीन है, तब तक चोर कुछ भी नहीं करते। वे तो हमारी सहायता भी करेंगे किन्तु जब हम गाँव छोड़कर जंगल में जायेंगे तब अपनी स्वाधीनता खो बैठते हैं। वहाँ मार्गदर्शक भी कोई नहीं रहता। जो चोर हमारे साथ थे और अच्छी तरह से बर्ताव करते थे वे ही अब फँसाने में तत्पर होंगे। हम तो इस समय उनके अधीन रहते हैं। चोरों की संगति इस प्रकार हमें दुःसह तथा कष्टदायक होती है। हमारा जीवन उनके द्वारा लूटा जाता है। हम पहले उन्हें पहचान नहीं पाते, जिसका परिणाम हमें आगे चलकर भुगतना पड़ता है। इस लिए किसी भी अवस्था में हमें अपना सब कुछ दूसरों पर सौंपना उचित नहीं है। यदि वे चोर हों तो हम पहले पहल उन्हें पहचान नहीं सकेंगे। अतः हमें अपने को सुरक्षित रखना

चाहिए । चोरों के बाहरी सद्भाव के कारण भूलना नहीं चाहिए ।

इन्द्रियों और उनके विषयों का सम्बन्ध विशेष रूपसे अनुभव किया जाता है । राग तथा द्वेष, इस संबंध के संस्कार हैं । राग से आसक्ति बढती है और द्वेष से घृणा उत्पन्न होती है । राग तथा द्वेष दोनों भी जीवन के असली सत्य को प्राप्त कराने में कभी सहायक सिद्ध नहीं हुये और न होंगे । आसक्ति में जीवन का नाश है, तथा द्वेष में जीवन की विकृति है । आसक्ति को लेकर हम मोहित होते हैं, और द्वेष से सत्ता का अपमान ही करते हैं । जब द्वेष है, घृणा है, तब सर्वगत सत्य की साधना कैसे सम्भव है ? सत्य हर जगह है । किसी विशिष्ट वस्तु के प्रति द्वेष हो तो वह यथार्थ सत्ता का केवल अपमान है । इन्द्रियाँ और उनके विषय इस प्रकार द्वेष से सम्बद्ध होकर अपना अर्थ ही खो बैठते हैं । इन्द्रियों के ग्राह्य विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं । इन्द्रियाँ इनको ग्रहण करती हैं । वस्तुतः शब्द, स्पर्श, रूप आदि उस सत्ता की ही विकृत परिणति है । शब्द में, स्पर्श में वही एक स्फुरण है जो सर्वगत है, सब पर अधिष्ठित है । किन्तु हमारा अवधान इन्द्रियों के कारण शब्द से परे नहीं होता । हम केवल शब्द ग्रहण करते हैं । किन्तु शब्द रूपमें साकार हुए उस परतत्व का स्पर्श ग्रहण करने में असमर्थ हैं । जीवन का सद्भाव ग्रहण करने की क्षमता इन्द्रियों में है भी नहीं । इन्द्रियाँ भी एक प्रकार की सत्ता की विकृत परिणति है, जो इन्द्रियों के विषयों को उत्पन्न कर देती है ।

ऐसी अवस्था में दोनों ही अपने वास्तविक अर्थ को खोकर केवल बाह्य रूप में, एक दूसरे के प्रति राग द्वेष का द्वंद्व निर्माण करते हैं, जिससे जीवन का सारा सार नष्ट हो जाता है। वह परतत्वस्पर्शी ज्ञान इसी से नहीं अपनाया जाता। उस ज्ञान की स्वाभाविक सत्ता इन दोनों के द्वारा आवृत्त होती है। ढँकी रहती है। अतः आवश्यक है कि इनके द्वारा बनाये जानेवाले द्वंद्व को सदा दूर रखें। इन्द्रियाँ तथा विषय दोनों को इस बात का पता तक न चले कि हम किसकी खोज कर रहे हैं। सत्य की साधना में इन्द्रियों की संगति बाधक है। वस्तुतः इन्द्रियाँ तो हमारे जीवन में सहायक होने के लिये हैं। किन्तु हम जब स्वाधीनता खो बैठते हैं तब वे हमारे सहायक नहीं होते। जब तक हम विद्यमान हैं तब तक इन्द्रियाँ भी हैं। इसपर भी वे सदा के लिये सहायक नहीं होती। जीवन में जो संवेदना है, वह हम उन्हीं के द्वारा प्राप्त करते हैं। वस्तुतः संवेदना केवल इन्द्रियों की नहीं है, इन्द्रियाँ स्वयं संवेदना देने में असमर्थ हैं। मूल सत्ता का संवेदन ही संवेदना का आधार है। वह दिव्य संवेदन, इन्द्रियों के संवेदन के कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। इन्द्रियाँ एक प्रकार से इस संवेदन को अपने विकृत रूपमें ही उपस्थित कर देती है। मूलभूत संवेदन का प्रवेशद्वार उन्होंने रोका है। वे हठ-पूर्वक अपने ही संवेदन का डिम-डिम बजा बजाकर हमारा घात करते हैं। जिस प्रकार चोर रास्ते में रोक कर पथिक को लूटते हैं, उसका घात करते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ इस जीवन में जीवन के यात्रियों को फँसाती हैं।

लूटती हैं। जीवन का सद्‌भाव उनसे कोसों दूर है। कई प्रकार की रुकावटें डालती हैं। इस लिए चोरों से दूर रहना जैसे सर्वथा उचित है, वैसेही इन्द्रियों की अधीनता को दूर रखना नितांत आवश्यक है। मन के लिये भी उस सर्वगत सत्ता का स्पर्श सम्भव है। बुद्धि तथा मन को अगर इस सम्बन्ध में सचेत करने का प्रयास किया जाय, तो क्षुब्धता पैदा होगी। इन्द्रियों का अपनापन जागृत होगा। उनकी आसक्ति रुकावटें डालेगी। अतः उन्हें भी यह बात मालूम नहीं होनी चाहिए। इस अनुभूति का यदि मन में भी उच्चार होगा तो वह शब्द इतना बढता जायेगा कि जिस से साधना दुष्कर होगी।

रागद्वेष रूपी द्वंद्व का भय उनके अधीन होने में है। मन तथा इन्द्रिय देह बुद्धि को ही बढाती है। ऐसी अवस्था में हम उनकी अधीनता कभी स्वीकार न करें। उन्हें ही अपने अधीन रखें। वे ही हम पर अनुरक्त हों, न कि हम उनपर। २११.

विषाची मधुरता। झणि आवडी उपजे चित्ता।
तो परिणाम न विचारतां। सेवावे ना॥ १२॥

विष की मधुरता मन में रुचि पैदा करती है, किन्तु उसका परिणाम ?...... वह तो प्राण नाशक है।

वास्तव में इन्द्रियों की अपनी विशेष सत्ता है ही नहीं। इन्द्रियों का अनादि अस्तित्व है कहाँ ? प्रकृति के विकार से उनकी उत्पत्ति है। उनकी अपनी वास्तविक सत्ता नहीं है। इससे जिन विषयों का सेवन उन्हें रुचिकर होता है उनसे वे सुख

दे सकती हैं। संतोष देती हैं। अनुकूल विषयों का सेवन सन्तोषप्रद है, अन्यथा नहीं। अनुकूल तथा प्रतिकूल यह द्वंद्वात्मक धारणा होने के कारण ही सुख तथा दुःख मिलता है, और इससे ही राग और द्वेष पैदा होते हैं। ये दोनों भी उस परतत्व के पास तक नहीं पहुँच पाते। उनसे प्राप्त होनेवाले सन्तोष से हमारा चित्त भ्रमित हो जाता है। मोहित किया जाता है। इनके कारण ही चित्त चैतन्य की सत्ता को समझ नहीं सकता। उसके आनंद से वंचित रहता है। इस लिये विषयों का सेवन तथा उनका सुख दुःखात्मक संवेदन और रागद्वेष, ये सब कुछ एक प्रकार से अधोमुखी हैं तथा अधोगति को प्राप्त करानेवाले हैं। जीवन का सत्य इन्हीं के कारण ढँका हुआ रहता है। सत्य की लगन ही पैदा नहीं होती। वह आनन्दमय रुचि, विषयों के कारण इन्द्रियाँ नष्ट करती हैं। हमारी रुचि केवल विषयों की ओर दौडती हैं। जीवन की वास्तविक सत्ता की ओर संकेत तक करना असम्भव होता है। चित्तमें ही इस प्रकार विषय सेवन की रुचि पैदा होती है। विषय सेवन ही मधुर दिखाई देता है। और भाता भी हैं। विषय तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध स्पष्ट न होने कें कारण, हम मोहित होते हैं। वह रुचि विष की है, यह हम भूलते हैं। वास्तव में विषके सेवन का परिणाम यदि ध्यान में रखेंगें तो हम विष का सेवन ही क्यों करेंगे ? विष-सेवन का परिणाम निश्चित रूप से जीवन का अन्त है। जो यह जानता है वह विष की मधुरता स्वीकार करने पर भी उसका सेवन त्याज्य ही मानेगा। वह ऊपरी मधुरता जीवन का

सर्वनाश करायेगी । अत: किसी भी अवस्था में विषयों का सेवन इन्द्रियों के लिए अनुकूल नहीं हो सकता । २१२.

देखें इन्द्रियीं काम असे । तो लावी सुखदुराशे ।
जैसा गळीं मीन आमिषें । भुलविजे कां ।। १३ ।।

जाल के आमिष को भूलकर मछलियां जीवन गंवाती है । उसी प्रकार इन्द्रियों में होनेवाला "काम" सुख की दुराशा में हमें भुलाता है ।

इन्द्रियों में एक प्रकार की कमनीयता है । उनका काम अतीव प्रेरक तथा मोहक है । उस काम के पीछे हम दौडते रहते हैं । इन्द्रियों की कामना हमें भुलाती है । वह घातक लालसा सच्चे सुख से दूर रखती है । सच्चे सुख से वंचित करती है । वह एक प्रकार का दुराग्रह होता है । दुष्टता निर्माण करता है जो जीवन के सच्चे आनन्द का शत्रु है । पानी में मछलियाँ आमिष ढूंढती हैं । उन्हें तो केवल आमिष ही दिखाई देता है । जहाँ आमिष हो वहाँ वे दौडती हैं । आमिष के लिए वे मोहित होती हैं । अपने को भूलती हैं । अपने जीवन का भी भान नहीं रखती । जीवन भर वंचना का ही अनुभव करती हैं । इन्द्रियों की काम लालसा हमें आमिष के समान ही मोहित करती है । २१३.

परी तयामाजी गळ आहे । जो प्राणातें घेउनी जाये ।
तो तैसा ठाउका नोहे । झांकळलेपणें ।। १४ ।।

आमिष के अन्दर कांटा है । उससे उनके प्राण खतरे में

है। ढँका हुआ होने के कारण काँटे को मछलियां जान नहीं सकतीं।

जो आमिष है, वह मोहक है। ऊपर से लुभावना है, हमारा चित्त तो पूर्ण रूपसे लुब्ध होजाता है। ललचता है। वह केवल कामना मात्र देखता है। उसकी दृष्टि ही अन्धी है। आमिष के अन्दर अपने जीवन का विनाश है, यह बात उसकी समझ में नहीं आती। मछलियाँ आमिष के लिए लालायित हो उठती हैं। उछलती कूदती हुई आमिष पर न्यौछावर हो जाती हैं। उस आमिष के अन्दर छिपा हुआ काँटा (गल) उन्हें नहीं दिखाई देता। यह उनके ध्यान में नहीं आता कि काँटा उनके प्राणों का नाश करेगा। वह आवृत्त है–ढका हुआ है। इस लिए दिखाई नहीं देता तब भी अपना काम किए बिना वह कैसे रहेगा ? काँटा (गल) तो ढका हुआ है, और मछलियों की दृष्टि आमिष के कारण अन्धी हुई है। इससे विनाश के सिवा हाथ क्या आएगा ? २१४.

तैसें अभिलाषें येणें किजेल। विषयाची आशा धरिजैल।
वरी वरपडचा होईल। क्रोधानळा ॥ १५ ॥

अगर हम अभिलाषापूर्ण बुद्धि से विषयों की आशा रखेंगे, तो हम उनके अधीन होंगे। क्रोध रूपी अग्नि में जल जायेंगे।

विषयों के सम्बन्ध में मनुष्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है। विषयों के कारण वहाँ की लालसा मनुष्य को

अन्धा बनाती है। वह उस कामना में डूब जाता है। एक प्रकार की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है। मन मोह में ललचता है। भावनाएँ उछलती हैं। विकार कूदने के लिए उत्सुक होते हैं। इन्द्रियाँ तो बाढ आई हुई नदी के समान बल खाते हुए विषयों के पीछे दौडती हैं। विषयों की आशा कितनी प्रबल होगी? मानव विषयों की कामनाओं तथा लोभ में फँस जाता है। क्रोध रूपी अग्नि में जलता है। कामना के कारण चित्त में क्षोभ पैदा होता है। क्षोभ के कारण ही मानव क्रोध रूपी अग्नि में जलता है। २१५.

जैसा कवळुनियां पारधी। घातेच्चिये संधी।
आणि मृगातें बुद्धि। साधावया ॥ १६ ॥

मृग को पकडने कें लिये पारधी जिस प्रकार उस मृग की बुद्धि में मोह पैदा करके जाल के पास उसे लाता है और मौका पाता है –

मृगया करनेवाला शिकारी अपने शिकार को फँसाने की चेष्टा करता है। वह अपने शिकार की बुद्धि में भ्रम पैदा कर देता है। उसे अटकाने के लिए जाल जमीन पर इस ढंग से फैलाता है कि ऊपर से तो वह दिखाई नहीं देता। ऊपर से तो केवल हरी घास ही दिखाई देती है। हिरन वहाँ आते हैं क्यों कि वे मोहित होते हैं। ऊपरी घास के कारण अन्दर छिपा हुआ जाल दिखाई नहीं देता। उनकी बुद्धि में भ्रम पैदा होता है। बुद्धि भ्रमित होने के कारन घास की लालसा में हिरनों को पारधी के जाल में फँस जाना पडता है। उसने वहाँ घास

के रूपमें धान बोया है। नीचे का जाल हिरन नहीं देख सकता। बुद्धि इस प्रकार नष्ट होने से पारधी को अवसर मिलता है, और वह हिरनों का नाश करता है। वही बात हमारे जीवन की है। विषयों के कारण बुद्धि अन्धी होजाती है। और इन्द्रियाँ अवसर ढूंढती हैं कि कब चंगुल में मनुष्य फँस जायेगा? ऊपरी सद्भाव इस प्रकार जीवन के भाव को परिणत करता है। हमारी बुद्धि इस भूलभुलैया से मोहित होती है।

वहाँ सुख का हेतु ही घातक है। घात करने के हेतु से ही परिस्थिति का निर्माण होता है। हमारी बुद्धि मोहित होती है। वह हेतु-पुरस्सर है। वह हेतु जो घात का चिन्ह है, बुद्धि को मोहित करता है। बुद्धि अपनी स्वतन्त्रता खो बैठती है। वहाँ की आसक्ति तथा लोभ चारों ओर से विनाश की ओर घसीट ले जाते है। विषयों की लालसा चारों ओर से मनुष्य को भ्रमित करती है। वह जहाँ जाये वहाँ उससे पहलेही लालसा उपस्थित होती है। इस भ्रम में वह बिलकुल घिर जाता है। अन्य कोई उपाय न दिखाई देने पर भ्रमित-बुद्धि अपने आप अन्धे के समान उस भँवर में फँसती है। २१६.

(तयोरिति)

येथ तैसीचि परि आहे। म्हणोनि संग हा तु नोहे।
पार्था दोनी कामक्रोध हे। घातक जाणँ॥ १७॥

उसी प्रकार यहाँ भी होता है। हे पार्थ! ये काम-क्रोध सर्वथा घातक हैं। जीवन का नाश करनेवालों का संग निःसंशय त्याज्य है।

यह उपमा साम्य निःसंशय विलक्षण है। जीवन पग पग पर विषयों के अधीन रहकर अपनी सच्ची दृष्टि से वंचित हो गया है। भ्रम हमारा स्वभाव बन गया है। विषयों की लालसा अपनी कमनीयता के कारण हमें कदापि नहीं छोडती। हम भी उसे छोडने में असमर्थ रहते हैं। बिलकुल कायर बनकर उसके पीछे पीछे दौडते हुए अपनी व्याकुल करनेवाली पिपासा को तृप्त करने का प्रयास करते हैं। किन्तु न तो पिपासा तृप्त हुई न लालसा संतुष्ट हुई। लालच बढती जाती है, मोह फँसाता जाता है। ऊपरी संमोहन हमारे गले को काट रहा है। यह काम हमें जीवन के 'आराम' से दूर लेजाता है। उसका संग हमें भुलाता है। और हम भी उसमें प्रसन्न रहते हैं। इस लिए हे पार्थ ! यह आवश्यक है कि इस काम को और इसके संग को तू यथार्थ रूपसे जान ले। इस राग द्वेष को, इस आसक्ति, घृणा को तू ध्यान देकर देख। इस द्वंद्वात्मकता को सदा के लिए छोड दे। उनका संग विषय है। दोनों भी, काम और क्रोध, निःसंशय घातक हैं। जीवन का सब कुछ वे लूट रहे हैं। सच्चा आनन्द इन्हीं के द्वंद्व के कारण विनष्ट हो रहा है। उन्हें अपने पास रखना तक पाप है। काम न होनेपर क्षोभ नहीं रहेगा। द्वेष पैदा नहीं होगा। अतः सर्वथा इन्हें त्याज्य मानकर इन से सदा दूर रह। २१७.

म्हणोनि आश्रयचि न करावा। मनेंही आठव न धरावा।
एक निजवृत्तीचा वोलावा। नासों नेदी ॥ १८ ॥

उनका आश्रय नहीं लेना चाहिये। उनका स्मरण भी न

हो। आत्मनिष्ठा का आधार किसी भी प्रकार नष्ट न हो।

राग द्वेष, काम–क्रोध आदि द्वंद्व जीवन की निर्द्वंद्व सत्ता से हमें वंचित रखते हैं। इन्द्रियों का संवेदन कायर बना देने वाला है। ये द्वंद्व उपस्थित करनेवाले हैं। इन्द्रियाँ उनके विषय तथा संवेदन, द्वंद्व की पुष्टि करनेवाले हैं। द्वैत को बनाए रखने वाले हैं। अतः जो जीवन की अन्तिम सत्ता है, जो जीवन का स्वभावसिद्ध निर्द्वंद्व संवेदन है और जो केवल एकमात्र है, उस आत्मा से हम सदा के लिए दूर रहते हैं। वही केवल हमारा है। उसका आश्रय ही सत्य का आश्रय है। आत्मीयता के बिना जो कुछ है, वह केवल द्वंद्वात्मक है। मोहित करनेवाला है। क्षण क्षण, पगपग पर उसके दिव्य स्पर्श से पावन होकर, उसकी जीवन–व्यापिनी सत्ता का परिचय प्राप्त किये आनन्द से तन्मय होकर रहने में ही निर्द्वंद्वता है। उस आनन्दघन ज्योतिका नित्य नूतन विलास विश्व के रूप में साकार हुआ है। विश्व के रूप में भी वही एक सत्ता है, किन्तु उसे हम कैसे देख सकते हैं ? जब तक हम उसका अनुभव नहीं कर सकते, उसके आश्रय को स्वीकार नहीं करते, तब तक वह लुभावना तत्व जीवन में नहीं आता। चारों ओर फैली हुई अपनी ही आत्मीयता अनुभव करने के लिए, पहले पहल हमें उसे अपने में ही देखना होगा। आत्म सत्ता की विद्यमानता, उस निवृत्ति का अनुभव करानेवाली होगी।

इन्द्रियों का आश्रय लेकर, उनके सहारे जीवन का ध्येय खोजने का प्रयास किया जाता है। किन्तु जो वस्तुतः इन्द्रियों

के लिए भी अतीत है, उसे इन्द्रियाँ कैसे ढूंढ निकालेंगी ? इन्द्रियाँ अपने स्वभाव कें अनुसार जो देखती हैं, उसका ही राग द्वेषात्मक, सुख दु:खात्मक, संवेदन हमें प्रदान करेंगी। इन्द्रियों की लालसा, और उनकी कमनीयता को त्याग दो। उनका आश्रय लेना व्यर्थ है। सत्य के अतिरिक्त दूसरा चाराही क्या ? जीवन के असली सत्य के स्पर्श को अपनाने में ही जीवन की सफलता है। अत: किसी भी अवस्था में इन्द्रियों का आश्रय अनुचित है। आत्मीयता का अनुभव करना ही होगा। वहाँ जो प्रेम है, जो स्नेह हैं, वह सदा के लिए बना रहेगा। उसके अनुसंधान में संलग्न रहो। उस अनुसंधान में इन्द्रियां भी अपने आप दूर होती जाएँगी। उनका आश्रय अपने आप छूट जायेगा। अत: ऐसी निवृत्ति सर्वदा धारण करो। २१८.

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह: ।। ३५ ।।

स्वधर्म, यद्यपि कठिन है, तब भी श्रेयस्कर है। इसका अनुष्ठान अच्छी तरह से हो सकता है, परधर्म से स्वधर्म श्रेष्ठ है। स्वधर्म में निधन को प्राप्त होना भी अच्छा है किन्तु परधर्म भयकारी है ।। ३५ ।।

(श्रेयान्स्वधर्मो विगुण:)
अगा स्वधर्म हा आपुला। जऱ्हि कां कठिण जाहला।
तऱ्हि हाचि अनुष्ठिला। भला देखैं ।। १९ ।।

अपना धर्म, स्वधर्म कठिन हो तो भी उसका अनुष्ठान ही कल्याणप्रद होता है। अत: उसी का आचरण ठीक है।

इंद्रियाँ तो हमें सदाके लिए लुभाती रहती हैं। उनकी रुचि दिन प्रतिदिन बदलती रहती है। उनमें कभी स्थिरता नहीं होती। आज जिसमें आसक्ति है उसके प्रति कल घृणा होगी। जो आचरण आज हमें भाता है, कल उस के प्रति घृणा होगी। वस्तुतः जीवन में, एक स्वधर्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी हितकर नहीं है। कभी कभी वह कष्टदायक लगता है। दूसरा धर्म लाभकारी दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में हमारा मन ललचाता है। दूसरे धर्म को स्वीकार करना चाहता है। यद्यपि स्वधर्म कठिन है, कष्टकारी है, तब भी उसका अनुष्ठान श्रेयस्कर है। उसके अनुष्ठान में ही कल्याण है। अन्यथा नहीं। २१९.

(परधर्मात्स्वनुष्ठितात्)
येर आचार जो परावा। तो देखतां कीर बरवा।
परि आचरतेनि आचरावा। आपलाचि ॥ २० ॥

दूसरे का आचार यदि अच्छा लगे तो भी हम अपना ही स्वधर्म सेवन करें।

दूसरों का आचरण या धर्म बाह्य रूप से ही अच्छा दिखाई देता है। वास्तव में वह भी कठिन है, कष्टकारी है। दूसरों का धर्म अच्छा दिखाई देता है इस लिए उसको स्वीकार करना अनुचित है। अतः अपने धर्म का ही आचरण करना चाहिए। स्वधर्म का सेवन सदा रूचिकर है। वस्तुतः यह स्वधर्म हमारी बुद्धि की परिणति है। यह हमारे बुद्धि-जीवन की उस सत्ता के अधिष्ठान में जीवभाव को, प्राणरस को प्रस्तुत करती है। तब कतिपय संस्कारों से लदी हुई कैसे रह सकती है? यह

जीवभाव क्यों कर और कैसे प्राप्त हुआ है, उसका संकेत करने की क्षमता अपनी बुद्धि में है। वही केवल विश्वास-भाजन बन सकती है। वही हमारे स्वभाव धर्म का यथार्थ आविष्कार कराती है और हमसे उसकी पहचान कराती हैं। ऊपरी रूप से यह कठिन दिखाई देता है, किन्तु अन्त में वही सुलभ है। आत्मबुद्धि का प्रसाद ही स्वधर्म है। इस से प्रसन्नता अपनाई जाती है। प्रसाद प्राप्त हो सकता है। परिणामत: जो दु:खदायी है, किन्तु आरम्भ में जिससे सुख मिलता है, वह असल में सुख नहीं है। परिणामतः जो सुखकर है किन्तु प्रारम्भ में दु:खद है, वह सुख है। जो अन्त में सुखद होता है वह प्रारम्भ में कठिन होने पर भी अभ्यास के द्वारा सुलभ होता है। इसलिए स्वधर्म ही हितकर है। २२०.

सांगें शूद्रगृहीं आघवीं। पक्वान्नें अहाती बरवी।
तें द्विजें केंवि सेवावीं। दुबळा जऱ्हीं ॥ २१ ॥

शूद्र के घर का पक्वान्न अच्छा होने पर भी द्विज को सेवन करने योग्य नहीं। चाहे द्विज दुर्बल भी क्यों न हो !

पवित्रता जीवन के लिए आवश्यक है। जहाँ पवित्रता दिखाई नहीं देती, वहाँ सद्भाव कैसे होगा ? जिसके जीवन में पवित्रता वास करती है, जो स्वधर्म से युक्त होकर अपने भाव को पहुँच चुका है, ऐसे स्वभाव-सिद्ध ब्राह्मण को, शूद्र के यहाँ पक्वान्न खाने में क्या रुचि आएगी ? यद्यपि वह दुर्बल है, तब भी वह पक्वान सेवन करना निषिद्ध ही माना जायगा। २२१.

हे अनुचित कैसे कीजे । अग्राह्य केविं इच्छिजे ।
अथवा इच्छिलेंही पाविजें । विचारींपां ॥ २२ ॥

क्या यह अनुचित स्वीकार्य हैं ? क्या अग्राह्य की इच्छा की जाय ? अगर इच्छा हो तो भी क्या उसकी पूर्तता करें ?

वहाँ की अपवित्रता, दूषित धारणा, विचार और स्वधर्महीनता उसे अन्न खाने से रोकेंगी। उसके जीवन में स्वाभाविक संस्कारों द्वारा निर्मित पवित्रता वहाँ जाने से उसे रोकेगी। जो अनुचित है, वह उचित कैसे हो सकता है ? जिसको प्राप्त करना अयोग्य है, उसकी अभिलाषा क्यों कर की जाय ? यदि अभिलाषा हो तो भी क्या उसके पीछे जायें ? यह सर्वथा अनुचित है । अपना जो कुछ है, उसमें ही पवित्रता निहित है । २२२.

तऱ्ही लोकांची धवळारें । देखोनिया मनोहरें ।
असतीं आपली तणघरें । मोडावीं केवीं ॥ २३ ॥

लोगों के विशाल प्रासादों को देखकर क्या हम अपनी गरीबी की झोपडियों को नष्ट करें ?

लोगों के विशाल प्रासाद हैं । सुन्दर और मनोहर मन्दिर हैं । बिस्तृत और बडे बडे महल हैं, जहाँ सभी साधन उपलब्ध हैं; भोग और विलास जहाँ नित्य वास करते हैं । क्या उन्हें देखकर हम गरीबों को अपनी झोंपडियाँ तोड देनी चाहिए ? क्या हम अपनी झोंपडियाँ नष्ट करेंगे ? यह मूर्खता ही होगी । २२३.

(स्वधर्मे निधनं श्रेय:)

हें असो वनिता आपली । कुरूप जऱ्ही जाली ।
तऱ्ही भोगितां तेचि भली । जयापरी ।। २४ ।।

अपनी स्त्री यदि कुरूप हो तो भी उसका ही उपभोग ठीक होगा ।

अपनी पत्नी चाहे कितनी ही कुरूपा क्यों न हो किन्तु उसके सिवा अन्यत्र दृष्टि रखना पाप है। वह कुरूपताही सुन्दरता है । वहाँ सौन्दर्य है, क्यों कि वह अपनी है । वहाँ आत्मीयता है । परायी स्त्री की लालसा विनाशकारी तथा भयानक है । आत्मीयता के कारण ही कुरूपता सुन्दरता बनती है । २२४.

तेंवि आवडे तैसा सांकडु । आचरतां जऱ्ही दुर्वाडु ।
तऱ्ही स्वधर्माची सुरवाडु । परत्रींचा ।। २५ ।।

चाहे कितना भी कष्ट क्यों न हो, आचरण करने में कठिनाई भी क्यों न हो, किन्तु परलोक को सुखकर बनानेवाला स्वधर्म ही है ।

स्वधर्म अत्यन्त कठिन है । उसका अनुष्ठान बहुत ही कष्टकारी होता है । ऐसी हालत में भी वस्तुतः स्वधर्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सुखद नहीं है । स्वधर्म, सदा के लिए हितकारी रहेगा । उसकी कठिनता अभ्यास से सुकर होगी । वही केवल पारलौकिक कल्याण करने में सहायक है । परलोक का एकमात्र साधन स्वधर्म है । यद्यपि वह कठिन है, तब भी

उस परतत्व के अनुसंधान में सहायक है। वह परतत्व स्वधर्म की साधना से सहज सिद्ध होता है। २२५.

(परधर्मो भयावहः)

हां गा साखर आणि दूध। हें गोल्य किरे प्रसिद्ध।
परि कृमिदोषीं विरुद्ध। घेपें केंवि ॥ २६ ॥

दूध और शक्कर मीठा जरूर है। किन्तु वह माधुर्य कृमि दोष होंनेवालों को अपथ्यकर है। कृमिदोष होनेवाला उसे कैसे लेगा ?

हमारा जीवन द्वंद्वात्मक है। उसमें व्याकुलता, आक्रोश करती है। जीवन की शाश्वत सत्ता जब तक प्रतीत नहीं होती तब तक जीवन का शिवत्व हमसे कोसों दूर रहता है। शिवत्व के न होने से हम 'अशिव' होकर रहते हैं। इस दृष्टि से हम रोगी ही हैं। जीवन इस रोग से ग्रस्त हो रहा है। उसकी तृष्णा बुझती नहीं। प्यास बढती ही जाती है। ऐसी रुग्ण अवस्था में पथ्यकर पदार्थों का सेवन सदा सुखद है। अपथ्यकर भोजन निषिद्ध है। कितनीही अच्छी वस्तु क्यों न हो, किन्तु वह अपथ्यकर हो, तो रुग्णावस्था में कैसे उसका सेवन कर सकते हैं ? इस रोग को हटाने का उपाय पथ्यकर पदार्थों का सेवन करना है। वह दिव्यौषिधि जो 'शिवत्व' का पावन स्पर्श करा देगी, उसी का सेवन करना आवश्यक है। सुख देना इन्द्रियों की माया है। वह एक प्रकार का आभास है। विषय सुख, कर्मेंद्रियों द्वारा कभी कभी सुखद प्रतीत होता है, किन्तु वह सदाके लिए सुखद नहीं है। उसकी अपनी मर्यादा है।

इसके अतिरिक्त हम विषयों में ही फँसे हुए हैं। हमारी व्याकुलता विषय सेवन से नष्ट तो नहीं होती किन्तु और बढती है। बीमारी इस प्रकार बढती ही जाती है। ऐसी अवस्था में हम क्यों उसका सेवन करें ?

हमारा जीवन कृमि-दोषों से दूषित होगया है। जिसे कृमिदोष है, वह दूध शक्कर न खाये, यह वैद्यक शास्त्र का सिद्धान्त है। दूध तथा शक्कर तो मधुर है किन्तु वह माधुर्य कृमिदोष के रोगी के लिए घातक है। वहाँ दूध-शक्कर खाना मना है, अपथ्यकर है। यही बात हमारे जीवन की है। हमें जीवन का शिवस्वरूप ज्ञात नहीं है। उसके पार्थिव स्वरूप से ही हम विकल हो रहे हैं। ऐसे रोग में हम क्यों अपथ्य करें ? और इन्द्रियों का सेवन क्यों करें ? अपने को उनकी लालसामें क्यों फँसायें ? दूध-शक्कर खाने सें विकारों में वृद्धि होगी। इसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा विषय सेवन करने का अर्थ है, इन्द्रियों की शक्ति बढाना, जीवन की प्यास तीव्र करना। २२६.

ऐसेंनिही जरी सेविजेल। तरी ते आळुकींचि उरेल।
जे तें परिणामीं मिथ्या नव्हेल। धनुर्धरा ॥ २७ ॥

हे धनुर्धर ! तिस पर भी कोई उसका सेवन करेगा तो उसे व्याधि ही रहेगी। उसका परिणाम बुरा ही होगा।

इस पर भी हम उसका सेवन करेंगे, तो वह एक प्रकार का दुराग्रह होगा। विषयों का निष्काम भाव सें सेवन करना योग्य है। जिसके जीवन के शिवत्व का रूप पहचान लिया है,

जिसने पवित्रता का स्पर्श अनुभव किया है, उसे इन्द्रियों द्वारा शिवदर्शन होगाही। सर्वत्र 'एकमेवाद्वितीयम्' की अनुभूति हो। ऐसी अवस्था में वह विकारों को नहीं बढायेगा। किन्तु जगह जगह पर परतत्व के दर्शन से जीवन को सुखमय तथा पावन बनाए रखेगा। यह विश्व जिस हेतु से निर्मित हुआ, उसके अधिष्ठान तथा आविष्कर्ता को जिसने अपने जीवन में साक्षात् कर लिया, विषय वासना उसका क्या बिगाड सकती है ?

यही उचित है, कि विषयों की आसक्ति से हम दूर रहें। इन्द्रियों की वासना में न डूबें। जीवन को बडा व्यामोह समझकर उससे सदाके लिए मुँह मोडें, क्यों कि उनका परिणाम हानिकर है। कृमिदोष होने पर दूध शक्कर खानेवाला उस दोषको बढाना ही चाहता है। वह पथ्य कभी नहीं हो सकता। उसकी माधुरी विकल बना देनेवाली है। अतः हे पार्थ ! ठीक समझकर तू सर्वथा उसकी आसक्ति से दूर ही रह। २२७.

म्हणोनि आणिकांशीं जें विहित।
आणि आपणपेया अनुचित।
तें नाचरावें जऱ्ही हित। विचारिजे॥ २८॥

अगर अपना ही हित देखा जाय, तो यह स्पष्ट है कि जो अन्य लोगों को विहित किन्तु अपने को अनुचित हो, तो उसका आचरण अनावश्यक है।

दूसरों के लिये कल्याणकर होनेपर भी, हमें उस पदार्थ पर फिर से विचार करना होगा। जो वस्तु दूसरों के लिए कल्याणकर है, वह हमारे लिए भी होगी यह विचार ठीक नहीं

है। दूसरों को लाभकारी है इसलिए हमारे लिये भी लाभकारी होगी, यह समझना मूर्खता है। हमें फिर से, सावधानी से, विचार कर लेना चाहिए कि वह परायी वस्तु हमारे लिए लाभकारी हो सकेगी या नहीं ? दूसरों की चीजों का विचार करते समय, हमें अपनी क्षमता का भी विचार होना चाहिए। क्या हम उसके सेवन के लिए योग्य हैं ? जो अपनी चीज है, जो स्वभाव से ही हमारा धर्म है, उसे छोडकर परायी वस्तु अपनाना बिलकुल अनर्थकर होगा। अपने लिए जो अनुचित है, किन्तु दूसरों के लिए हितकर है, वह किसी भी हालत में न अपनायें। किसी भी स्थिति में उसका अनुष्ठान न करें। आवश्यक यह है, कि निर्लेपता से इस संबंध में विचार करके, अपना स्वाभावित स्वधर्म न छोडें। उसकी निष्काम भाव से उपासना करें। २२८.

या स्वधर्मातें अनुष्ठितां। वेच होईल जीविता।
तोही निका वर उभयतां। दिसतसे ।। २९ ।।

स्वधर्म का अनुष्ठान करते हुए यह हमारा जीवन भी नष्ट हो जाय, तो भी वह इस लोक तथा पर लोक की दृष्टि से श्रेष्ठ है।

स्वधर्म का अनुष्ठान करते रहने में यदि हमारा निधन भी हो जाय, तब भी वह कल्याणप्रद है। निष्काम भावसे उसके विशुद्ध आचरण में जीवन नष्ट होनेपर भी, वह कोई बुरी बात नहीं होगी। वह इस लोक और परलोक दोनों की दृष्टि से श्रेष्ठ है। जीवन की गति, उस परतत्व के स्पर्श के लिए व्याकुल

हो उठती है। परतत्व के स्पर्श के लिए स्वधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात अनुष्ठान योग्य नहीं। उसमें निधन अपने 'भाव' कोही प्रकट करेगा। शिवत्व उस निष्कामता में प्रतीत होगा। अत: स्वधर्म में निधन भी श्रेयस्कर है, किन्तु परधर्म सर्वथा हानिकर है। २२९.

ऐसें समस्तसुरशिरोमणि। बोलिले जेथ शार्ङ्गपाणि।
(अर्जुन उवाच)
तेथ अर्जुन म्हणे विनवणि। असे देवा ॥ ३० ॥

देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार कह रहे है कि अर्जुनजी ने पूछा "हे देव, मेरी प्रार्थना है।"

सकल देवों के जो देव हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वधर्मानुष्ठान के बारे में उपर्युक्त विचार प्रकट किये। स्वधर्म, जीवन में सफलता देनेवाला होने के कारण, उसके संबंध मे जो आशंका होती है, उसको पूछना उचित है। भगवान के समान वक्ता तथा अर्जुन के समान सरल अंत:करण का श्रोता, जहाँ हो वहां एक प्रकार की रसमयता ही होगी। अर्जुन भगवान से विनय पूर्वक पूछ रहा है। प्रार्थना करता है कि इन बातों को स्पष्ट कीजिए। २३०.

जें हें तुम्ही सांगितलें। तें सकळ कीर म्यां परिशिलें।
परि आतां पुसेन कांहीं आपलें। अपेक्षित ॥ ३१ ॥

आपने यह जो कुछ कहा, वह मैंने सब ठीक सुना है। तो भी मेरे मन में कुछ शंकाएं हैं, पूछने की चाह है। अर्जुन जी ने कहा—

आपने यह जो कुछ कहा उसे मैंने सावधानी से सुना है। उसपर विचार भी कर रहा हूँ। किन्तु मेरे मन में कई प्रश्न उठते हैं। आपसे प्रार्थना है, कि ये जो प्रश्न हैं उनका यथेष्ट समाधान करें। आपके अतिरिक्त दूसरा कौन है, जो इन विचारों को स्पष्ट करने में समर्थ होगा ? इस लिये यहाँ जो मेरा अपना प्रश्न है, मेरी अपनी समस्या है, उसे कृपया स्पष्ट कर दीजिये। २३१.

अर्जुन उवाच :
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

अर्जुन उवाच : हे श्रीकृष्ण, मनुष्य किसके द्वारा प्रेरित होकर, इच्छा न रहने पर भी विवशता से पापाचरण करता है ? ।। ३६ ।।

(अथेति)
तऱ्ही देवा हें कैसें। जे ज्ञानियांचिही स्थिति भ्रंशे।
मार्ग सांडुनि अनारिसे। चालत देखों।। ३२ ।।

हे देव ! यह स्पष्ट नहीं होता कि ज्ञानियों की स्थिति भी किस प्रकार भ्रष्ट होती है ? क्या वे अनुचित मार्ग क्रमण करते हैं ?

कृपया यह कहें कि यह कैसे संभव है कि कभी कभी ज्ञानी भी भ्रष्ट दिखाई देते हैं। उनकी आत्मस्थिति भी विचलित होती है। वे अपना स्थैर्य खो बैठते हैं। अपने मार्गको छोडकर, अपने धर्म को छोडकर, पराये धर्म का अनुसरण करते हैं।

उनके द्वारा स्वधर्म का त्याग होता है, ज्ञान की जगह अज्ञानसा दिखाई देता है। यह भ्रष्टता कहाँ की है ? कैसे होती है ? २३२.

सर्वज्ञही जे होती। हे उपाय जाणती।
तेही परि धर्मी व्यभिचरती। कवणें गुणें ॥ ३३ ॥

वे वस्तुतः सर्वज्ञ होते हैं। उचित अनुचित जानते हैं। फिर उनके धर्माचरण में व्यभिचार क्यों कर हो सकता है ?

जो सर्वज्ञ हैं, सभी साधन जाननेवाले हैं, उनके अंत:करण में भी यह व्यामोह क्यों पैदा होता है ? स्वधर्म छोडकर, वे पागल क्यों बनते हैं ? यदि कुछ बातें उन्हें उस प्रकार का बर्ताव करने में विवश करती है, तो उन बातों के परित्याग के साधन भी वे जानते हैं। सगुण भावों को ठीक रूप से जानने का अर्थ है कि यह व्यक्त रूपमें होनेवाली परिणति यथार्थ रूपसे जान लेना। जीवन का प्रकट रूप यथार्थ रूप से अपनाना है। आत्मा का व्यक्तीकरण विश्व की धारणा, अमूर्तका मूर्तीकरण, इन सबको समग्रता से अनुभव करना है। यह समग्र निर्मिति जिस धारणा से होती है, जिसके अधिष्ठान में सम्पन्न होती है, उसका साक्षात्कार हर क्षण में, पग पग पर होना आवश्यक है। कभी कभी यह अनुसन्धान होने पर भी, वह व्यक्तीकरण पूर्णता से प्रतीत नहीं होता। समग्रता से उसका ग्रहण नहीं होता। ऐसी अवस्था में वह सम्बन्ध जो जीवन के शुद्धभाव को अपनाता है टूट जाता है। जिससे स्थिरता नष्ट होती है। एक प्रकार का भ्रम पैदा होता है। वस्तुतः वह

महात्मा अपने रूप में परिणित होता है। किन्तु उनकी आत्म, व्यक्ति समग्रता से अंकित न होने के कारण सन्तोष की वृद्धि, विचार, क्रिया, आदि सब कुछ इन लोगों के लिये विलक्षण से प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि उसने स्वधर्म का त्याग किया है। वस्तुतः वहाँ इस बात का प्रयास करता है, कि विश्व के समग्र रूप का सृजन स्पष्ट हो। अतः वह भिन्न भिन्न भावों को अपनाते हुए दर्शन से सांत्वना प्राप्त करता है किन्तु यह सब कुछ क्यों कर एकात्म है, इसकी क्या आवश्यकता है ? २३३.

बीजा आणि भुसा। अन्ध निवाड नेणे जैसा।
नावेक देखणाही तैसा। वरळे कां पां ।। ३४ ।।

दाने में छिपा हुआ कूडा करकट अन्धा दूर नहीं कर सकता किन्तु दृष्टि संपन्न आदमी भी उसी प्रकार क्यों आचरण करता है ?

जो देख सकता है, वह ठीक रूप से संकलन में असमर्थ है। जो अन्धा है, वह चुनने में असमर्थ है। जो सर्वज्ञ है वह भी ठीक रूप से उसका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। उसका वर्णन उचित ढंग से नहीं होता। भली भाँति वह जीवन का प्राकटच नहीं कर सकता। उसके बर्ताव में विचित्रता होती है। उसके बोलनें में भी रुखेपन का आभास होता है। दाने दाने से कूडा करकट दूर करने का प्रयास दृष्टि सम्पन्न मनुष्य ही कर सकता है, न कि अन्धा। किन्तु यहां जो देखता है, वह भी ठीक रूप से काम नहीं करता। वह भी अपने बर्ताव में विचित्रता

ला देता है। अपने धर्म को खोकर पराये धर्म के अनुष्ठान में लग जाता है। ज्ञानी, दृष्टिसम्पन्न महात्मा यदि इस ढंग से बर्ताव करते हैं, तो उसमें क्या रहस्य छिपा है ? कौन उन्हें विवश करता है ? २३४.

(अनिच्छन्निति)

जे असतां संग सांडिती। तेचि संसर्ग करितां न धाती।
वनवासिंही सेविती। जनपदातें ॥ ३५ ॥

देह–बुद्धि का संग उन्हें पसन्द नहीं। फिर वे ही संसर्ग चाहते हैं। संग होने पर उन्हें समाधान भी प्राप्त नहीं होता। वन में रहने वाले भी नगर में आते है। (यह क्यों ?)

यह पाया जाता है कि स्वधर्म से ही लोगों को सुख मिलता है। संग इस दृष्टि से अटल है। जीवन में संसर्ग के कारण, सब कुछ बनता बिगडता है। हम गृहस्थ होकर रहते है। जो कुछ स्वभाव से प्राप्त होता है, उसे हम पहले तो स्वीकार करते हैं, उसका सम्मान करते हैं। किन्तु बादमें उसके प्रति घृणा पैदा होने लगती है। जीवन के झंझट हमें कष्ट देते हैं। हम उससे दूर रहना पसन्द करते हैं। घर छोडकर दूर जंगल में भागते हैं। समझते हैं कि यहाँ हम झंझट से छूट जायेंगे। किन्तु यह उनकी भूल है। संग वहां भी पीछा नहीं छोडता। सदा के लिये वह उनके पीछे ही रहता है। जंगल में नयी गृहस्थी प्रारम्भ होती है। यह सामान्य परिवर्तन कुछ प्रभाव नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में, यह स्पष्ट है, कि

संग से इन्हें सुख नहीं मिलता। वस्तुतः वनमें रहना जिन्होंने पसन्द किया है, उन्हें इन नगर–वासियों के गाँवों की आवश्यकता पडती है। वहाँ गाँव के समान ही बर्ताव होता है। तात्पर्य यह कि जहाँ जीवन के सर्वविध भाव विचार विकार, आचार, संस्कार, संसर्ग आदि अपने रूप में परिणत होते हैं वहाँ उनका संवेदन स्पष्ट होता है। बुद्धि जीवन का व्यवहार जान सकती है। वहाँ मनुष्य पुरुषार्थ जान सकता है। पुरुषार्थ संग से छुटकारा पाने में ही प्राप्त होता है। प्रकृति का व्यवहार पुरुष के मोक्ष के लिए है, किन्तु न तो पुरुष बद्ध है और न उसे मोक्ष चाहिए। इस बन्ध–मोक्ष का प्रकृति ही निर्माण करती है। यह सृजन जहाँ यथार्थ रूप से जाना जाता है, वही नागरिक भाव है। वहीं हमें जीवन का सद्भाव जानने की तीव्र इच्छा होती है। जनपह में रहनेवालों को वह तीव्र संवेग पैदा होगा, जो जीवन की झंझट से छुटकारा पाने के प्रयत्न में सहायक होगा। इस लिए वन में रहने वाले योगी को भी जनपदों का आश्रय, कुछ काल तक आवश्यक सा प्रतीत होता है। वे वहाँ जाते हैं, जीवन की गति देखते हैं। उसका अनुभव करते हैं। वहाँ की व्याकुलता वे समझते हैं। वहाँ की व्याकुलता वे समझते हैं और अपने संवेग को और भी तीव्र करते हैं, तो क्या यह संग उनसे भी कभी दूर नहीं होता। २३५.

(बलादिव नियोजितः)
आपण तरी लपती। सर्वस्वें पाप चुकविती।
परि बलात्कारें सुईजती। तयाचि माजी॥ ३६॥

वस्तुतः वे पाप नहीं चाहते। स्वयं छिपकर रहते हैं। किन्तु विवश होकर फिर जबरदस्ती पाप में ही लिप्त रहते हैं।

लोग तो पाप से जी चुराना चाहते हैं। पाप से दूर रहना चाहते हैं। वे मानो उससे दूर छिपे रहते हैं, किन्तु ऐसी हालत में भी वे पापमें लिप्त होते हैं। कई प्रकार के प्रयत्न करने पर भी, पाप ऐसे मनुष्यों से दूर नहीं होता। इतना ही नहीं वह पाप में बदल जाता है, और विवश होकर पाप करता रहता है। २३६.

जयाचि जीव घेति विवसी।
तेचि जडोनि ठाके जीवेसीं।
चुकवितां ते गिवसी। तयातेंचि ॥ ३७ ॥

प्राणी को जिस विषय के प्रति घृणा पैदा होती है, वही विषय उसे अधिक तीव्रता से मोहित करता है। उससे छुटकारा पाने का यत्न करने पर भी आदमी फँसता जाता है।

इस जीवन में प्रायः देखा जाता है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी वासना में मनुष्य फँसता ही जाता है। वासना का कर्मों के कारण निर्माण होता है। मनुष्य जन्म लेता है वासना के कारण और वही मनुष्य को खा डालती है, मार डालती है। जीवन में वासना का होना अनिवार्यसा दिखाई देता है। वह वासना रूपी पिशाची किसी भी हालत में, पीछा नहीं छोडती। वह अतृप्त रहती है और उसकी इच्छा दिन प्रति दिन बढती ही जाती हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में जिस वस्तु के बारे में घृणा पैदा हुई हो, उसी वस्तु को वह बार बार ग्रहण

करता है। घृणा उत्पन्न होनेपर भी उसका सेवन त्यागा नहीं जाता। कितना ही हम अपना जी चुराये किन्तु उसका कुछ परिणाम नहीं होता। वह हमें अटकाती है। इस प्रकार यह विवश करती दिखाई देती है। २३७.

ऐसा बलात्कार एक दिसे।
तो कवणाचा येथ आग्रह असे।
हें बोलावें हृशीकेशें। पार्थ म्हणे ॥ ३८ ॥

पार्थ पूछ रहे हैं कि, हृषिकेश कृपा करके यह कहिये कि यहां जो एक प्रकार का बलात्कार ही दीख पडता है, वह क्योंकर? किस की ओर से?

यहाँ एक प्रकार का जो दुराग्रह दिखाई देता है, जो परवशता है, जो प्राणी से अन्याय कराता है वह किसका स्वरूप है? वह कौन है जो हमें इस प्रकार कष्ट देता है? वस्तुतः हमारी इच्छा न होनेपर भी, हम जो उसके पीछे घसीटे जाते हैं, वह क्यों? उस बर्ताव का प्रेरक कौन है? यह जो व्यभिचार तथा बलात्कार होता है, उसके पीछे कौन है? हे भगवन्, इन बातों को कृपा करके स्पष्ट कर दें। अर्जुन के पूछने पर भगवान ने उसका उत्तर दिया। २३८.

श्रीभगवानुवाच :–

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो माहपाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्री भगवान कहते हैं :– रजो गुण से उत्पन्न यह काम

तथा क्रोध ही कभी तृप्त न होनेवाले और पापी हैं। इन्हें इस विषय में वैरी जानो !! ।। ३७ ।।

(श्री भगवानुवाच–)

तंव हृदयकमळ आरामु । जो योगियांचा निष्कामकामु ।
तो म्हणतसे पुरुषोत्तमु । सांगेन आइक ।। ३९ ।।

श्री भगवान् ने कहा– हृदय रूपी कमल को विकसित करनेवाले, योगियों का निष्काम काम, श्री पुरुषोत्तम कह रहे हैं, वह सुन लें।

भगवान ने पार्थ का यह महत्वपूर्ण प्रश्न सुन लिया। हृदयरूपी कमल को प्रफुल्लित करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण, जिनकी निष्काम योगी कामना करते हैं, अपनी आत्मवाणी कहने लगे कि हे पार्थ ! सुनो, इन बातों के मूल कारण पर ध्यान देना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। जीवन में ये प्रश्न बार बार व्याकुलता उत्पन्न करते हैं। ऐसी हालत में उनका यथार्थ रूप देखना आवश्यक है। २३९.

(काम एष क्रोध एष)

तरि हे कामक्रोध पाहीं । जयातें कृपेची सांठवण नाहीं ।
हे कृतांताच्या ठायीं । मानिजति ।। ४० ।।

ये काम और क्रोध वस्तुतः कृतांत के समान हैं। उनके पास कृपा की संभावना है ही नहीं।

काम तथा क्रोध अत्यन्त कष्टदायक तथा अपराजेय दिखाई देते हैं। उन्ही का रूप है राग और द्वेष। राग और

द्वेष को देखिये, यें दोनों काम तथा क्रोधके क्षुब्ध रूप हैं। दोनों इस प्रकार कष्ट देते हैं कि मनुष्य हैरान रह जाता है। उनके अन्तःकरण में लेशमात्र भी करुणा नहीं होती, दया नहीं होती। वे तो मनुष्य को सदा कष्ट देनेमें ही सिद्ध हस्त हैं। इन दोनों के द्वारा बलिष्ठ वासनाओं का भार इतना दबाव डालता है, कि मनुष्य दब जाता है। उसे सिर उठाने का अवसर तक नहीं मिलता। काम–क्रोध के अन्तःकरण में थोडीसी तो दया होनी चाहिए। वहाँ उनसे पहले आदत उत्पन्न की जाती है और बाद में एकमात्र निराशा ही दिखाई देती है। इनका दमन करना या इन्हें नियमित करना सामान्यतः असम्भव सा ही होता है। उनका नियमन नहीं हो सकता। इत लिए ये 'यम' के समान हैं, कृतांत हैं। मनुष्य का जीवन भ्रष्ट करके उसे कष्ट देने का सफल प्रयास जी जान से करते हैं।

काम क्रोध तथा उनसे उत्पन्न वासनाओं का स्वरूप बहिर्मुखी है। उनका साधन बननेवाली इन्द्रियाँ सदा बाहर से ही विचलित करती रहती हैं। रूप, रंग, स्पर्श, रस, गन्ध, नाद आदि बाह्य आवरणों से ही उनका सारा काम चल रहा है। इतना ही नहीं उन्होंने मनुष्य के जीवन को बहिर्मुखतासे ग्रसित कर लिया है। स्थूल तथा व्यक्त रूप में ही विचार किया जाता है। अपने अपने विषयों के सिवा दूसरा विचार ही उनके लिये व्यर्थ है। जीवन की असली सत्ता की साधना तो वे होने नहीं देते। जो कुछ किया जाता है, देखा जाता है, बहिर्मुखता से ही। परतत्व की, धर्म की बात तो अत्यन्त दूर है। जो कुछ

अनुभव करता है, वह वास्तव में ऊपरी होता है। अनुभूति समग्र तथा सत्य-स्पर्शी नहीं होती। इससे अनुभव करते समय आनन्द हो सकता है, जिससे आशा तीव्र की जाती है किन्तु उसके बाद एक प्रकार की उदासीनता छा जाती है। व्याकुलता पैदा होती है। यहींपर क्षुब्धता है, फिर आशा है, और फिर निराशा है। द्वंद्व है तथा दैन्य भी। जीवन भर यही क्रम चलता है। इस द्वंद्व को न छोडकर जो निर्द्वंद्व जीवन के अधिष्ठान परतत्व की साधना करता है, वह मूर्ख है। उस साधना का तीव्र संवेग जिन्होंने अपनाया है, उन्हें क्षोभ नहीं होता। आशा निराशा के पीछे घूमते रहने से क्या जीवन सफल होगा ?

अत: काम 'त्याज्य' है। जीवन में विनाश फैलानेवाला यही है। इसके पास तनिक भी दया नहीं। यह बिलकुल निष्ठुर है। साक्षात् यम के समान है। २४०.

हे ज्ञाननिधीचे भुजंग। विषयदरीचे वाघ।
भजन मार्गींचे मांग। मारक जे ॥ ४१ ॥

ये ज्ञान रूपी निधि के भुजंग हैं। विषय रूपी घाटी के व्याघ्र हैं। उपासना मार्ग के मारक हैं।

जब इन वासनाओं का स्वरूप बदल जाता है, तब की बात अलग है। वे उस समय निर्वासित होकर रहती हैं। केवल अपने स्वभाव के अनुसार दृश्य दिखाकर, फिर स्वयं नष्ट होजाती हैं और अपने मूल भाव को अपनाती है। उसका नियमन तो अपने आप होता है। बहिर्मुखता के नष्ट होनेपर प्रकृति अपनेपन को अपनाती है। वहाँ प्रत्येक क्रिया सूक्ष्म सृष्टि

को समझती है। जीवन के मूल भाव को जगाती है। वासना अटकाने वाली नहीं होती। जीवन हलके हलके सूक्स भावों को अपनाता हुआ सार्थक होता है। इस तरह प्रकृति की विलक्षण माया "भक्षक" होने के बजाय 'रक्षक' बनती है। तब यह जीवन सफल हो सकता है। आत्माराम होकर हम आप्तकाम हो सकते हैं। आप्त काम होने से 'काम' की कामना निष्काम होजाती है। जीवन की गतिविधि तथा व्यवहार अपने सहज रूप में होकर निरन्तर आनन्द उत्पन्न करते हैं। तप इस लिए आवश्यक है। वह तेज का निर्माण कर देगा। तपःसामर्थ्य विलक्षण है, जो शुद्ध स्वरूप को साक्षात् करता है।

किन्तु जहाँ यह निवृत्ति नहीं, तप नहीं, नियमन नहीं वहाँ कामक्रोध अपने स्वरूप का विकृत भाव दिखायेंगे। ज्ञाननिधि के वे मानों विचित्र रक्षक ही हैं। जिन्होंने इन दोनों को हटाया वे इस महान् निधि को अपना सकते हैं। इनका त्याग ही स्वरूपसिद्धि का दिव्य आभोग देनेवाला है। वस्तुतः ऊपरसे ये डर दिखायेंगे, बिलकुल भुजंग के समान ही, वे मनुष्य की कडी परीक्षा करेंगे। उसका क्या हेतु है, यह देखेंगे। अगर ज्ञान ही उसका हेतु हो, तो वे दोनों भी बहुत प्रसन्न होंगे। केवल ज्ञान की कामना लेकर कोई आयेगा, तो उसकी वे हानि नहीं करेंगे। पहले पहल उसकी परीक्षा करेंगे और अगर सफल होगा तो उसपर प्रसन्न हो कर उसे यह अनमोल ज्ञाननिधि दे देंगे। ज्ञाननिधि तो अमूल्य है। कोई भी आये और लेजाय सो बात नहीं। अधिकारी उसे अपना सकता है। वह ऐरे गैरे का काम

नहीं। जिसके जीवन में अत्यन्त विराग है, केवल वही इस महान निधि का स्वामी है। अन्यथा ये काम क्रोध रूपी भुजंग डसेंगे ही। जीवन के बारे में भय उत्पन्न करनेवाले ये व्याघ्र के समान ही हैं। विषयरूपी घाटियों में रहते हैं। विषयों में सर्वत्र विष फैलाते हुए घूमते हैं। जीवन का सद्भाव इनकी विषैली दृष्टि से दूर हो रहता है।

'भजन' मार्ग या 'भक्ति' जीवन का स्वभाव है। 'भजन' का अर्थ है, भगवान पर प्रेम करना। भगवान का चिन्तन–मनन विधि पूर्वक करते रहना। उसका तनिक भी विस्मरण न होने देना। भगवान के सिवा सब कुछ असार समझते हुए, उन्हें त्यागकर परम प्रेम–रूपी भक्ति को अपनाना जीवन की कटुता को दूर करने की दृष्टिसे आवश्यक है। हमारे जीवन में विकलता है। कटुता है, आक्रोश है। कुछ न कुछ कमी है। वहाँ सदा के लिए आग्रह है। किसी न किसी विषय का हम आग्रह करते ही हैं। हमें वह पसन्द नहीं होता, हम दूसरी वस्तु चाहते हैं। कामना बढती है, किन्तु कभी दूर नहीं होती। इस प्रकार सन्तोषरहित होकर अपना जीवन ही हमें कष्ट देता है। सदा सर्वदा दुराग्रह करता रहता है। किन्तु ऐसी दशा में, इस क्षुब्धता में यदि हम भगवान के गुणगान में मग्न होंगे, भजन में तल्लीन रहेंगे तो सम्भव है कि ये त्रुटियाँ कष्टदायक न हों। जिस वस्तु के लिए आग्रह ही असम्भव है, ऐसी एक भी वस्तु नहीं किन्तु इस भजन की विशेषता यह है कि त्रुटि होनेपर भी इसे कष्ट नहीं हो सकता। वस्तु की

विकृति दोषास्पद होकर भी वह सगुण हो जाती है। हमारा अन्तःकरण इस भजन तथा गायन के द्वारा करुणापूर्ण होता है। हर जगह होनेवाली व्याकुलता का स्पन्दन समझने की क्षमता इस करुणा में होती है। अतः यहाँ दूसरों की त्रुटियाँ क्यों कर कष्ट देंगी ? जो जैसा है, उसे उसी रूप में ग्रहण करने की क्षमता तथा सहानुभूति पैदा हो सकती है।

मनुष्य का अन्तःकरण करुणाप्रिय है। करुणा जीवन की विकलता का स्पंदन है। प्रकट रूप है। उसका यथार्थ रूप ज्ञात होने के लिए उसका आवाहन होना उचित है। यह आवाहन भाव संपन्नता में सफल होता है। मनुष्य गाता है, भजन करता है, अपनी तीव्रता बढा देता है, ऐसी दशा में धीरे धीरे उसका हृदय भी एक प्रकार से निरामय होने लगता है। दूसरों के प्रति वहाँ करुणा का निर्माण होने लगता है। गीत की रसमयता निराशा को दूर करती है। हमारे जीवन की त्रुटियाँ, न्यूनतायें स्वभावतः रहती ही हैं। हम बार बार प्रयत्न करते हैं किन्तु वे दूर नहीं होती। अतः आवश्यक होता है कि उन्हें हम भगवान को अर्पित कर दें। कष्ट, तथा आकांक्षाएँ, उन से कह दें, और यह इस ढंग से कि जिसमें हमारा अन्तःकरण द्रवित होजाय। अत्यन्त आर्द्र होकर, आत्मसमर्पण के साथ रसमय होकर भगवान का भजन करें। जब तक यह गान सविकार तथा सकाम रहेगा, तब तक उसका महत्व नहीं बढ सकता। किन्तु धीरे धीरे वही अपने स्वभाव को प्राप्त होता है। विकार नष्ट होने लगता है। जो कुछ है, उसे उसी रूप में ग्रहण करने की क्षमता आने लगती

है। हमारी आकांक्षायें अपने आप पूर्ण होकर नष्ट होजाती हैं। वहाँ 'भाव' का निर्माण होता है। सभी प्रकार की भावनाओं का आक्रोश बंद होता है। निष्काम स्वरूप में होनेवाला यह अत्युत्तम गान भजन ही है। यह कला विकल बना देनेवाली नहीं, किन्तु विकलता को दूर करनेवाली है। करुणा का उद्वेग निर्माण करनेवाली नहीं किन्तु करुणा की रसमयता को बढाने वाली है। इस से जीवन अपनाया जाता है। आनंदरूप में रसमय होकर ही। जीवन कला अपनी होकर जीवनभर अमृत-सिंचन करती है। अत: अभ्यास द्वारा इसको अपनाओ। जिसके द्वारा स्वभाव का सौंदर्य व्यक्त होता है। स्वभाव व्यक्त होता है।

यह तो स्पष्ट है कि हरेक का स्वभाव कुछ अपनी विशेषता रखता है। इस विशेषता के ही कारण व्यक्तित्व रहता है। अपना कुछ धर्म है, गुण है। इन सभी के कारण ही 'स्व' भाव का निर्माण होता है। स्वभावकी विशेषता उसकी ओर निर्लेपता से देखने से स्पष्ट होती है। स्वभाव की अहंता या अपनेपन का अभिमान स्वभाव का यथार्थ दर्शन होने पर नहीं रहता। अहंता या अभिमान होनेसे जीवन में हर बार दिखाई देनेवाली उद्धतवृत्ति नहीं रहेगी। हर जगह उस असीम परम तत्व का संकेत करते हुये, जीवन निरहंकारी होता रहेगा। सर्वत्र एक प्रकार का सौजन्य रहेगा। सौजन्य अपने स्वभाव में परिणत होगा। विनीत तथा विलीन भावों से भगवान का भजन करने में जीवन सफल होता जायेगा। चाहे किसी भी प्रकार के कष्ट पैदा हों, स्वभावसिद्ध सौजन्य तथा तन्मयता नष्ट नहीं होगी।

और ऐसे महात्मा का जीवन दुःखो नहीं होगा।

भगवान के प्रेम के अमृतबिंदु का जिसने एक बार प्राशन किया, एक बार उस प्रेम स्थिति का अनुभव किया, वह फिर उसे छोडने को कैसे तैयार होसकता है? जिसके जीवन में यह अमृत धारा बहती है, वह अन्य सुख दुःखों की ओर मुडकर देखेगा भी क्यों? जिसने भक्ति को अपनाया, उसमें तन्मय हुआ वहा सदा के लिए आनंद का आस्वाद लेता रहा। वहाँ ऐसे भक्तों के पास, भक्ति और भी रमणीय होकर रहती है। भक्ति को 'भक्त' मिलता है और उसका सम्पूर्ण जीवन हर्ष विभोर होता है। उस भक्त के स्वभाव विशेष के द्वारा अत्युत्कृष्ट रूप में भक्ति प्रकाशित होती है। पग पग पर नवरसों से परिपूर्ण काव्य उत्पन्न होता है। उसकी रसार्द्र दृष्टि जहाँ जाती है, वहाँ की भूमि रससिक्त होकर लहलहा उठती है। स्वभाविक कर्तव्य तथा लोक संग्रह वहाँ अपने आप होते हैं। गुण, सद्गुण बनते हैं और सद्गुण सार्थक होकर कृतार्थ बनते हैं। वस्तुतः सभी प्रकार के गुण सामान्य होने पर भी, यहाँ व्यक्तिवाचक होजाते हैं, क्योंकि स्वभाव की विशेषता में व्यक्ति की परिणति है। व्यक्ति के गुण स्वभावज हैं और स्वभाव विशेष के अनुसार ही उनका आभास होता है। उन गुणों की अभिव्यक्ति उस महापुरुष के जीवन में सर्वोत्तम हो सकती है। लोगों के लिये वह आदर्श या मान-चिन्ह बन जाता है। इतनाही नहीं, उस गुण का विस्तार तथा विभाव भक्त को होता है। गुण की प्रकृति विकृति वह जानता है, जिससे उसके फँदे में कभी फँस

नहीं सकता। इस प्रकार निर्भयता प्राप्त होती है। एक अनोखी स्थिरता वहाँ रहती है।

जीवन की इस अनुभूति में बुद्धि, आत्मरूप में विलीन हो जाती है। भक्ति में तन्मय होजाती है। ऐसी स्थिति में वह जगह जगह पर, परतत्व को ही अपनाती है। वहाँ परतत्व के विषय में श्रद्धा रखने की कुछ आवश्यकता ही नहीं रहती, क्यों कि वह सत्य उसे प्रत्यक्ष होजाता है। जब प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त है, साक्षात्कार होगया है तब बुद्धि का निश्चय बार बार दुहराने की क्या आवश्यकता है? वह तो स्वभावतः तन्मय हो बैठता है। इस हालत में सच्ची श्रद्धा होती है। वहाँ साम्प्रदायिक रूप नहीं। विश्वास रखने की आवश्यकता नहीं। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के परिणाम रूप होनेवाली श्रद्धायुक्त मनोवृत्ति भी यहाँ अभिप्रेत नहीं। केवल अपने प्रत्यक्ष दर्शन से ही, बुद्धि की तदाकारता में यह श्रद्धा स्वभाव को ग्रहण करती है। वह बिलकुल सहज, स्वभावसिद्ध और संसार की गतिविधियों से सुपरिचित रहती है। क्यों कि उस जीवन में अपने आप दर्शन है, सत्य की प्रतीति है, स्वरूप साक्षात्कार है। भक्त तो स्वयं गुरु होता है। स्वयं शिष्य। इतना सात्म्य होने से वह पुरुषार्थ को अपनाता है। आत्मौपम्य भाव से जहाँ कहीं भी देखे, परतत्व का प्रसाद है ही। उसका जो कुछ आचार होता है, वह निष्कामता के कारण धर्माचरण ही होता है। धर्म उसके आचरण में अपने आप आ बैठता है। निष्काम धर्माचरण होने से श्रीगुरु का दर्शन हो जाता है, या स्वयं श्री गुरु वहाँ आकर

दर्शन दे जाते हैं।

गायन की विशेषता यह है कि गाते समय मनुष्य की वृत्ति तन्मय होती है। संगीत की स्वरमाला में आदमी अपने को भूल जाता है। एक प्रकार की तन्मयता, तथा तदाकारिता वहाँ होती है। विविधता में व्यग्र मन उस समय एकाग्र हो जाता है। एकविधता का एक विलास संगीत के कारण एकतंत्रता में परिणत होता है। एक-विधता या तन्मयता जीवन में अत्यावश्यक है। भजन में हम भगवान के साथ तन्मय हो जाते हैं। भजन करते समय उस असीम को अपनाने का प्रयास करते रहते हैं। द्वंद्वात्मकता को छोडकर, विविधता को त्याग कर निर्द्वंद्व और एकात्मक सत्ता का आवाहन भजन में अभिप्रेत है। सर्व स्पर्शी सत्ता का आवाहन भजन की विशेषता है। सर्वविध भावों का आधार होने वाले उस परम विभाव का, यहाँ अनुभव किया जाता है। अतः भजन जीवन का भी आधार होता है। जीवन में प्रतीत होनेवाले सुख तथा दुःख अपनी कठिनता छोडकर मृदुता को अपनाते हैं। उनका दर्द या वेदना नष्ट होकर स्वभाव से ही वे प्रसन्नता का निर्माण करते रहते हैं। वहाँ कर्तव्य की निष्ठुरता नहीं रहती। कर्तव्यनिष्ठा सामान्यतः निष्ठुर सी दिखाई देती है। कर्तव्य पालन में कष्ट होता है। मन में एक प्रकार की विषण्णता रहती है। परन्तु भक्त के जीवन में संगीत की परतत्वस्पर्शी साधना से सर्वत्र आह्लाद प्राप्त होता है। भक्ति में श्रेष्ठता तथा सफलता है वैसे आचरण में भी वह प्रतीत होता है। बडों का आचरण उनके जैसा होना

चाहिए। आचार, विचार तथा अनुभूति में केवल सामंजस्य स्थापित हो, वरन् वहाँ समरसता स्वभावसिद्ध रूप से हो। अनुभूतियाँ सत्स्पर्शी हैं। विचार सर्वंकष हैं और आचार नैष्कर्म का आदर्श है। जो कुछ वह कर्मयोगी करेगा, उसके पीछे कामना नहीं होगी। आसक्ति न रहेगी और तृष्णा उसे विकल नहीं बनायेगी। आत्मानन्द की गति में, भजन की सद्भावना में, परतत्व के साक्षात्कार में उस महान योगी का जीवन, देवता का सा बन जाता है। वहाँ द्वंद्व नहीं, विरोध नहीं, विषण्णता तथा विकलता नहीं। जो कुछ है, वह उस सत्ता का साक्षात्कार मात्र रहेगा।

इसीलिए भजन की महत्ता है। मनुष्य का स्वभाव अहंकार को बनाए रखता है। अहंकार ही स्वभाव के व्यक्तितत्व को छोडता नहीं। जब तक अहंकार है, तब तक स्वभाव के द्वारा सुख दुःख है। द्वंद्व है। मोह है। सब कुछ वेदनामय तथा सापेक्ष है। इस अहंता को नष्ट करने के लिये एक अच्छी दवा है भजन। भजन एक ऐसी औषधि है कि, जिसके सेवन से 'अहं' अपने आप भाग जाता है। 'काम' निष्काम हो जाता है। क्रोध अपने पर क्रुद्ध होकर निकल जाता है। काम तथा क्रोध का निर्वासन होने से जीवन की गति-विधि का तथा अपने व्यक्तितत्व का अतिसूक्ष्म आवाहन हो सकता है। उसकी अभिव्यक्ति का हेतु स्पष्ट होता है। भजन के द्वारा जीवन का सद्भाव प्राप्त होता है। स्वभाव का सद्भाव उत्फुल्ल होजाता है। अपने आप प्रसाद का निर्माण होता है, प्रसन्नता अंकुरित

होती है। मन की मोहकता नष्ट होती है। वह भी गम्भीर बनकर अन्तर्मुख बनता है। उसकी उच्छृंखलता नष्ट होती है। वह अपनी ही स्थिति को पाता है। उसका स्वभाव स्थिर होता है, वह अन्यत्र जाता नहीं। गुणों की विविधता रूपों की अनेकता तथा स्थिति का संक्रमण, सब कुछ एक प्रकार से व्यग्र बना देता है। किन्तु भजन के सहारे एकाग्रता स्थिर होती है, तन्मयता में परिणत होती है। वहाँ एकविध शांत स्नेह प्रस्फुटित होता है। शांति की प्रसन्न ज्योत्स्ना जीवन का आह्लाद बढाती रहती है। अपने आप और स्वभावतः सर्वात्मक सत्ता का आवाहन तथा पूजन होता है। स्वभाव एक प्रकार की विकृति है, तो भी वह फिर से अपने स्वभाव को अर्थात प्रकृति को पाता है और फिर उस असीम सौन्दर्य के सृजन में अपने को सफल करता है।

इस दृष्टि से भजन जीवन का 'प्रमाण' दर्शाता है। जीवन के मूल भाव को स्पष्ट करता है। अतः उसकी समरतसता में तल्लीनता मनुष्य के लिये उचित है। किन्तु भजन में बाधा डालने वाले हैं काम तथा क्रोध। ये तो एक प्रकार के मातंग ही है, जो प्राण का घात करते हैं। भजन मार्ग को वे उखाडते रहते हैं। सीधे रास्ते पर चलनेवालों को कष्ट देते रहना, उनका कर्म और धर्म है। ठीक रूप से न चलनेवालों को तो, वे इस प्रकार सताते हैं कि उनका सर्वस्व लूटते हैं। अतः इन्हें ठीक रूप से पहचानकर उनसे सावधान हो कर दूर रहना चाहिए। २४१.

हे देहदुर्गीचे धोंड । इन्द्रियग्रामींचे केंड ।
याचे व्यामोहादिक दबड । जगावरी ॥ ४२ ॥

देह रूपी दुर्ग के ये बडे बडे पत्थर हैं। ये इन्द्रियाँ रूपी ग्रामों के कारागृह हैं। मोह, विनाश, असत्य तथा उच्छृंखलता आदि के रूप में यही जगत में भ्रम पैदा करते हैं।

देह एक दुर्ग या किला है। उस किले पर अपनी अबाधित सत्ता नहीं है। किले के हम स्वामी होने पर भी वहां एक प्रकार का बन्धन है। हम इच्छित बर्ताव नहीं कर सकते। स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र रहते हैं। अपनी स्वाभाविक असीम तथा अबाध सत्ता हमें ज्ञात नहीं। अपने स्वभाव को पाने के लिए बुद्धि अपनी जडता को त्याग नहीं सकती। जडता तब तक दूर नहीं होती जब तक कि कामना में हम डूबे रहते हैं। निर्वासित होकर निष्काम अवस्था की भूल कर दूर भटकते हैं। बुद्धि की जडता मन को बन्धन में डालती है। मन का बन्धन इन्द्रियों पर भी लागू होता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखता को अपनाती हैं। मूढ मन तथा जड बुद्धि होने से ये काम तथा क्रोध उस देह रूपी किले में बडे बडे पत्थर होकर किलेदार के मार्ग में रोडे अटकाते हैं। दुर्गपति का स्वामित्व सफल होने नहीं देते। इन्द्रियों के गाँवों में, गाँवों की सीमाएँ बनकर बन्धन उत्पन्न कर देते हैं। वे तो इन्द्रियों पर अपना अधिकार कर लेते हैं, और अपने आधीन रखकर उच्छृंखल बनाने में सहायक होते हैं। इन्द्रियों का बन्धन इन दोनों के कारण कई गुना बढता जाता है।

इन्होंने जगमें मोह पैदा कर दिया है। मोह, विनाश, उच्छृंखलता, और औद्धत्य ये सभी बातें इनके नेतृत्व में डंका बजाती हैं। सचमुच जगत इनके द्वारा व्याप्त है। सारे जगत को इन्होंने फँसाया है। ये न तो कृपा करते हैं, न शांत रहते हैं। सदा ही झगडा पैदा करते हुए, शोर मचाते हुए उपद्रव फैलाते रहते हैं। २४२.

(रजोगुणसमुद्‌भवः)

हे रजोगुण मानसाचे। समूळ आसुरियेचे।

धायपणाचे। अविद्या केलें।। ४३।।

अविद्या से इनका पालन पोषण हुआ है। ये मन के रजो गुणात्मक तथा आसुरी संपत्ति से ही प्रवृत्त हुए हैं।

इन दोनों के द्वारा वासनाओं का फँदा तैयार किया जाता है। दूसरों को फँसाने के लिए इनका अस्तित्व है। ये दोनों वस्तुतः मनमें रजोगुण के कारण पैदा होते हैं किन्तु इनको तमोगुण का आश्रय मिला। तमोगुण के द्वारा ही इनका पालन पोषण किया गया है। वह आसुरिवृत्ति-वाला तमोगुण जो अविद्या को बनाये रखता है, इन कामव्याधों का सहायक रहा। अविद्या ने माता की तरह पालन किया है। वह उन दोनों की दाई बन चुकी है। २४३.

हे रजाचे कीर जाले। परि तमासि पढियन्ते भले।

तेणें निजपद यांसि दिधलें। प्रमाद मोह।। ४४।।

यदि ये रजो गुणोत्पन्न हैं तो भी, तमोगुणों के सच्चे मित्र

हैं। प्रमाद तथा मोह के पद उन्हें प्राप्त हुए हैं।

रजोगुण से पैदा होने पर तमोगुण की प्रवृत्ति ही इन्हें पसन्द है। इतना ही नहीं तमोगुण को ये बहुत भाते हैं। वस्तुतः तमोगुण को नियन्त्रित करने का कार्य रजोगुण का है। किन्तु इन दोनों के द्वारा यह कार्य तनिक भी नहीं होता। वे तो सदा के लिए तमोगुण के द्वार पर ही पडे रहते हैं। वे मानों तमोरूप ही हैं। वहीं पर उन्हें आनन्द होरहा है, और तमोगुण को भी आनन्द दे रहे हैं। तमोगुण के कारण मनुष्य प्रसन्न होता है, बिलकुल अन्धा बनकर, चाहे जैसा बर्ताव करता है। मूढ होजाता हैं। फिर क्या ? प्रमाद तो पग पग पर होते ही रहेंगे। मूढता के कारण मोह अपने आप आ जाता है। मोह और प्रमाद तमोगुण के हैं। इन दोनोंने उन्हें अपनाया है। प्रमाद और मोह अब काम तथा क्रोध के फल जैसे प्रतीत होते हैं। तमोगुण ने मानो उनका "काम" देखकर प्रसन्न होकर इन दोनों को निहाल कर दिया है। २४४.

हे मृत्युच्या नगरीं। मनिजती निकियापरी।
हे जीविताचे वैरी। म्हणोनियां ।। ४५ ।।

यमराज की नगरी में इन्हें मित्र के समान सम्मान प्राप्त है, क्यों कि ये जीवन के वैरी हैं।

ये दोनों प्रत्यक्ष यमराज के समान हैं। कृतांत के समान इनका कार्य है। जीवन का विनाश करते रहना इन्हें प्रिय है। अतः यमराज की नगरी में इनकी अच्छी साख है, प्रतिष्ठा है। न केवल प्रतिष्ठा है, उनको यमराज के समान ही सम्मान

मिलता है। ये सदा कें लिए जीवन के शत्रु हैं। इस लिए इनका वहाँ सम्मान होता है।

(महाशनः)

जयांसि भुकेलियां आमिषा। हें विश्वचि न पुरे घांसा।
कुळवाडियांची आशा। चाळित असे ॥ ४६ ॥

इनकी भूख बडी है। समूचा जगत् भी उनकी भूख के शमन के लिये पर्याप्त नहीं होता। इन दोनों का व्यापार "आशा" पर निर्भर है।

ये दोनों अत्यन्त क्षुधित हैं। एक बार क्षुधा के कारण क्षुब्ध होनेपर, खाने के लिए समूचा जगत् भी उन्हें कम पडता है। उनकी भूख वैसी ही बनी रहती है। सब कुछ खाने पर भी उनकी भूख शमित नहीं होती। उनकी वासना इतनी तीव्र है कि संपूर्ण मनुष्य के शरीर को खाकर भी सन्तुष्ट नहीं होती। वह और खाना चाहती है। मनुष्य को नष्ट करने पर भी, उनकी आशा उन्हें आगे बढाती है। वस्तुतः इन दोनों का व्यापार ही 'आशा' पर निर्भर है और यह एक ऐसी आशा है, जो कभी निराश नहीं होती। किसी भी दशा में आशा का पाश छूटताही नहीं। काम क्रोध आगे बढते हैं। जीवन विकल होकर विनष्ट होता है। २४६.

कौतुकें कवळितां मुष्टी। जियें चौदा भुवनें थेकुटीं।
तया भ्रांति हे धाकुटी। वाल्हीदुल्ही ॥ ४७ ॥

वह सहज ही हाथ फैलाये तो चौदह भुवन भी उसके हाथ

में समा जायेंगे । उसकी लाडली छोटी बहन है भ्रांति ।

यह आशा इतनी विकराल है, इतनी भयंकर है कि उसे सब कुछ थोडा ही मालूम होता है। उसकी माँग बढती ही रहती है। चाहे जितना दीजिये, उसे पूरा नहीं पडता। उससे भी बढकर उसकी छोटी बहन है। किन्तु उसकी "चाह" पूरी नहीं हो सकती। वह अगर सहज ही हाथ फैलायेगी तो चौदह भुवन भी उसके हाथ में समा जायेंगे और हाथ में और कुछ रखने को जगह न रहेगी। चौदह भुवन मिलाने पर भी इसकी आस पूरी नहीं होती। इसकी दृष्टि में कष्टी का सा भाव है ही। बहुत प्रयत्न करने पर, बार बार मनौती करने पर ही उसकी लाडली छोटी बहन 'भ्रान्ति' का जन्म हुआ है। २४७.

जें लोकत्रयाचें भातुकें। खेळतांचि खाया कौतुकें।
तिच्या दासीपणाचेनि बिकें। तृष्णा जिये ॥ ४८ ॥

यह खेलने बैठती है तो तीनों लोकों को खा डालती है। 'तृष्णा' उसकी दासता स्वीकार करके ही जीवित रही है।

छोटी बहन खेलने बैठती है। खेलते खेलते वह तीनों लोकों को ही खा डालती है। कितनी भयंकर क्षमता है भ्रान्ति की! इस 'भ्रान्ति' के आधार पर 'तृष्णा' जीवित है। तृष्णाने तो भ्रान्ति की दासता स्वीकार कर ली है। दासी होकर भ्रान्ति की सेवा करती है। तृष्णा की यह विशेषता है कि वह अपनी स्वामिनी भ्रान्ति का यथोचित कार्य करती है। २४८.

हें असो मोहें मानिजे । यातें अहंकारें घेपे दिजे ।
जेणें जग आपुलिये भोजें । नाचवीत असे ।। ४९ ।।

"मोह" इनका सम्मान करता है । अहंकार के कारण मोह का व्यापार रहता है और वह जगत् को फँसाता है । (अहंकार से ही लेन देन का व्यापार रहता है) अपनी इच्छा के अनुसार जगत् को नचाता है ।

इन काम क्रोधों का प्रपंच इस प्रकार बडा है । वे तो सदा इस बात पर अडिग हैं कि समूचे संसार को मन चाहे नाच नचाएँ । मोह इन्हें भाता है और मोह इनका सम्मान भी करता हैं । अतः ये दोनों मोहयुक्त होकर मोह फैलाती रहती हैं । मोह सारे जगत् को अहंकार के कारण फँसाता है । ऐसे अहंकार को अपने कार्य का व्यापारी बनाते है । अहंकार के साथ इनका लेनदेन और व्यापार होता है । २४९.

(महापाप्मा)
तेणें सत्याचा भोंकसा काढिला ।
मग असत्यपणकुटा भरिला ।
तो दंभ रूढविला । जगीं इहीं ।। ५० ।।

सत्य का पेट इन्होने फाडा है । उसमें असत्य का तिनका भरा है । उस पर दम्भ का भेस चढाया गया है और दम्भ को जगत् में रूढ किया ।

समूचे जगत् को मन चाहे ढंग से झुकाना इन दोनों का धर्म है । वे सदा इसलिये प्रयत्नशील रहते हैं कि संसार को

अपने फन्दे में कैसा फँसाया जाय ? जीवन में इनकी प्रतिष्ठा हर जगह बढती है। वे सत्य को हटाना चाहते हैं। इतना ही नहीं सत्य को नष्ट करके उसकी जगह अपने को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। सत्य में छिद्र करते हैं। उसका पेट फाड डालते हैं और उसमें केवल तिनका भर देते हैं। आकार तो सत्य का दिखाई देता है किन्तु अन्दर है तिनका असत्य !! सत्य का चिन्ह तक अन्दर नहीं। उसपर दम्भ का चढाया चोला। इस दम्भ पर आरूढ किया। उसे जीवन-व्यापी बनाया। ऊपरी सद्भाव, उपरी सत्य, इसके सिवा सचमुच कुछ नही रहा। दम्भ की ध्वजा चारों ओर फहरा रही है। २५०.

साध्वी शांती नागविली।
मग माया मांगी शृंगारविली।
तियेकरवीं विटाळविलीं। साधुवृंदें ।। ५१ ।।

सती शान्ति भ्रष्ट की गई। माया का शृंगार किया और उससे सभी साधु वृन्दों को दुःख दिया।

शान्ति वस्तुत: साध्वी है, सती है, और पवित्र है। उसका अस्तित्व पवित्रता उत्पन्न करनेवाला है। परन्तु इन दोनों का प्राबल्य उसका पीछा करता है, तब वह अपनी सत्ता खो बैठती है। उसकी "शान्ति" अपने आप नष्ट हो जाती है। एक प्रकार से मानों वह भ्रष्ट हो जाती है। तत्पश्चात वे दोनों माया का शृंगार करते रहते हैं। साध्वी का अपमान करके कुलटा को स्वामिनी बना देते हैं। झूठी बातें इन्हें प्रिय हैं।

माया के द्वारा सज्जनों को कष्ट देना आरम्भ करते हैं। सज्जनों को गालियाँ देते देते, उनका अपमान करते करते, इनके दिन बीतते हैं। जिन बातों को कहना तक पाप है, उन्हें ये काम-क्रोध प्राय: उपयोग में लाते हैं। २५१.

इहीं विवेकाची त्रय फेडिली।
बैराग्याची खाल काढिली।
जितिया मान मोडिली। उपशमाची ॥ ५२ ॥

विवेक का आधार इन्होने नष्ट किया। वैराग्य का आवरण हटाया उपशम को जीते होते भी व्यथित किया।

विवेक की धारणा नष्ट हो जाती है। इनकी सत्ता में विवेक का नाम तक नहीं रह जाता। विवेक जहाँ स्थिर नहीं रहता है, वहाँ वैराग्य ही बैरागी बनकर चला जाता है। वैराग्य को तो वे इतना सताते हैं कि उसका स्थिर रहना असम्भवसा हो जाता है। वह भाग जाना चाहता है। उसके पीछे पडकर ये दोनों काम-क्रोध उसकी खाल निकालते हैं। ऐसी हालत में उसका अस्तित्व कैसे रह पायेगा? वह बिलकुल निराधार हो जाता है। विराग तथा विवेक के न रहने से जीवन का समभाव नहीं रह सकता। सभी भावों को, विचारों को तथा विकारों को समान बना देनेवाली उपशम की वृत्ति वहाँ कैसे रहेगी। उपशम होने से स्वभाव को शक्ति मिलेगी किन्तु जहाँ उपशम पैर नहीं रख सकता, वहाँ स्वभाव कैसे प्रधान रहेगा? उपशम को वहीं पर व्यथित किया जाता है। विद्ध कर दिया जाता है। चारों ओर एक तूफान है। सर्वत्र

विकराल गर्जना है । २५२.

इहीं संतोषवन खांडिलें । धैर्यदुर्ग पाडिले ।
आनंदरोप सांडिलें । उपडोनियां ।। ५३ ।।

सन्तोषवन को तोडा । धैर्य के दुर्ग गिरा डाले । आनन्द के छोटे पौधे सूख गये । उन्हें उखाड कर ही फेंक दिया ।

सन्तोष का होना जीवन में तभी सम्भव है, जब कि सभी भावनाओं का, विकारों का और विभावों का उपशम हो चुका हो । सन्तोष में जीवन का द्वंद्व नहीं रह सकता । उस समय जीवन आह्लादक होता है । चारों ओर फैली हुई वृक्षराजि फलों तथा फूलों से लदी हुई प्रसन्न दिखाई देती है । कहीं बेलियाँ भूमि से लगकर फैली हैं, तो कुछ पेडों पर चढकर पेड की छाया में अपने को धन्य समझ रही हैं । सर्वत्र प्रसन्नता और शान्ति का वातावरण रहता है । भिन्न भिन्न प्रकार के पशु, पंछी आनन्द के साथ विहार कर रहे हैं । जीवन परिपूर्ण स्थिर, शान्ति और आल्हादपूर्ण है । जब वन विशालता तथा अगाधता को अपनायेगा । तब शान्ति और प्रसन्नता को पायेगा । उसके लिए सन्तोष की आवश्यकता है । क्यों कि सन्तोष के कारण जीवनवन फलता फूलता है । वन जीवन का न होकर सन्तोष का होता है । अतः सन्तोष के वन पर वे दोनों महाशत्रु हमला करते हैं । उस वन को नष्ट करते हैं । पूर्ण विध्वंस करते हुए उन्हें आनन्द होता है । उन्होंने धैर्यरूपी किला नष्ट किया, धैर्य के नष्ट होने से आनन्द का छोटा पौधा भी सूख गया, मुरझा गया । उस पौधे को उखाड कर भी फेंक दिया ।

कैसे जी सकता है वह ? २५३.

इहीं बोधाचीं रोपें लुंचिलीं । सुखाची लिपी पुसिली ।
जिव्हारीं अग्नि सूदिली । तापत्रयाची ।। ५४ ।।

बोध के पौधे तोडे । सुख की भाषा ही नहीं रही। त्रिविध तापों से अन्त:करण तप्त रहा ।

काम–क्रोध का कार्य महाभयंकर तथा विध्वंसक है। किसी अच्छी चीज को वे पसन्द नहीं करते । बुद्धि जब बोध का पौधा लगाती है, तब वह उसमें लीन होजाती है किन्तु इन दोंनों के विध्वंसक कार्यद्वारा वह बोध का पौधा उखाड डाला जाता है । ये सुख की भाषा समझने नहीं देते । चारों ओर दु:ख, निष्ठुरता बनी रहती है । संमोह के कारण सच्चा प्रेम कहीं दिखाई नहीं पडता । प्रेम का प्रशान्त प्रवाह इनके अस्तित्व में शील नहीं पैदा कर सकता । इसके विपरीत त्रिविध तापों से अन्त:करण तप्त रहता है । २५४.

हे आंगा तंव घडले । जिवींची आथी जडले ।
परि न तुटत गिंवसिले । ब्रह्मादिकां ।। ५५ ।।

ये हमारे शरीर में इतने एक रूप हुए हैं कि प्रत्यक्ष ब्रह्मादि देवताओं को भी इनका पता नहीं चलता ।

इनका जन्म रजोगुण से हुआ । किन्तु वे हमारे जीवन में इतने एकरूप हुए हैं कि मानों हमारे साथ उनका जन्म हुआ है । शरीर के साथ ही पैदा होते हैं । अन्त:करण से अटूट सम्बन्ध रखते हैं । उन्हें दूर करने का लाख प्रयत्न करो, किन्तु

वे बाहर जाने का नाम नहीं लेते। प्रत्यक्ष ब्रह्मादि देवता ही अगर इन्हें ढूँढने का प्रयास करें तो सम्भव है कि उन्हें भी इनका पता न चले। उनका अस्तित्व जितना सूक्ष्म है उतना ही व्यापक है। साथही जीवन में उनका होना अस्वाभाविक होनेपर भी स्वाभाविकसा बन गया है। २५५.

हे चैतन्याचे शेजारी। असती ज्ञाना एका हारीं।
(विद्धयेनमिह वैरिणं)
म्हणोनि प्रवर्तती महामारी। सांवरती ना ॥ ५६ ॥

चैतन्य के साथ रहते हैं, ज्ञान की पंक्ति में भोजन करते हैं। समूचे चगत् को नष्ट करने का ही इनका प्रयास रहता है। इनका विध्वंसक कार्य महामारी से भी बढकर भयंकर है।

इनकी प्रतिष्ठा तो इतनी बढ रही है कि वे प्रत्यक्ष चैतन्य के साथ रहते हैं। जीवात्मा के साथ रहते हैं। ज्ञान के साथ ये भोजन करते हैं। ज्ञान के साथ इनका लगाव है। ये ज्ञानी को भी डूबाने में प्रवीण होते हैं। इनका विलक्षण सामर्थ्य सर्वथा विध्वंसक है। समूचे जगत् को नष्ट करने का इन्होंने प्रण किया है। इनके विध्वंस का कार्य, महामारी से बढकर है। वे तो किसी के काबू में रह ही नहीं सकते। बिलकुल अनियन्त्रित रहकर मनमानी करते हैं। २५६.

हे जळेंवीण बुडविती। आगीवीण जाळिती।
न बोलत कवळिती। प्राणियांतें ॥ ५७ ॥

ये जल के सिवा डूबाते हैं, अग्नि के सिवा जलाते हैं

और मौन रहकर प्राणियों को घेरते हैं।

इनका सामर्थ्य कितना विलक्षण है! डुबाने के लिए इन्हें पानी भी आवश्यक नहीं। बिना पानी के ये डुबा सकते हैं। बिना अग्नि ये जला सकते हैं। इतना ही नहीं ये बिना कुछ कहे मनुष्य को इस प्रकार घेरते हैं, कि बस उसके लिए फिर मुक्ति का कोई चारा नहीं रह जाता। २५७.

हे शस्त्रेवीण साधिती। दोरेंवीण बांधिती।
ज्ञानियांसि तरी वधिती। पैज घेउनी॥ ५८॥

शस्त्र के बिना ही ये मार डालते हैं। रस्सी के बिना बांधते हैं और ज्ञानियों को तो प्रण करके ही नष्ट करते हैं।

इन दोनों के द्वारा विलक्षण भ्रम पैदा कर दिया जाता है। ये मनुष्य की बुद्धि को मोहित कर लेते हैं। बुद्धि इसलिये मानती है कि इस जीवन में जो कुछ सुख है या सत्ता है वह केवल बुद्धि मात्र तथा देहात्मक है। देह तथा बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। इसी से देहाभिमान पैदा होता है। देहबुद्धि का प्रभाव बढता जाता है। जीवन अन्तर्मुख होनेकी अपेक्षा बहिर्मुख होकर भोगासक्त बन जाता है। इससे बुद्धि का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। वह बिलकुल अन्धी बनकर अपने में ही व्यग्र होती है। इससे तो हानि है ही। जीवन की वृद्धि दर्शन में नहीं तो सर्वांग तथा सर्वसाक्षी सत्ता को अपनाने में है। वह सत्ता बुद्धि के इस विकृत ध्यान में कैसे अपनायी जाएगी? जहाँ सत्ता का अनुभव नहीं, सत्य का विश्वास नहीं,

वहां स्थायित्व कैसे सम्भव है ? इससे केवल मौत ही साथ रहेगी। विनाश ही अपनाया जायेगा। विनाश करने के लिए काम तथा क्रोध को शस्त्रों की आवश्यकता नहीं होगी ? उनके जाल में फँसे हुए अपने आप मरते जा रहे हैं। बुद्धि ही वहां विपरीत होचुकी है। तो फिर विनाश अटल है। बाँधने के लिए रस्सी किसलिए चाहिए ? यहाँ अपने आप बन्धन पैदा होता है। अनिर्बंध तथा शाश्वत सत्ता का अधिष्ठान न होनेके कारण जीवन में बन्धन तथा मर्यादा के अतिरिक्त क्या होगा ? काम और क्रोध का दास बनने से मनुष्य का जीवन सत्य से और स्वतन्त्रता से दूर चला जाता है। यहाँ जो समझते हैं कि हम ज्ञानी हैं, वे अपने इस अगाध 'ज्ञान' से ही अपना निधन कर लेते हैं।

जो अपने को विद्वान और ज्ञानी समझते हैं, उनको तो कामक्रोध होड लगाकर मारने का प्रयास करते हैं। विद्वत्ता तथा ज्ञान का अभिमान रखने पर सच्चा ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकेगा ? उनकी यह वृत्ति काम तथा क्रोध का अधिष्ठान बन जाती है। यह वृत्ति ही उनका विनाश कर देती है ! निवृत्ति का आधार अमृतत्व का आश्रय है। जहां वृत्ति है, वहाँ वासना भी है। काम और क्रोध हैं। अतः ऐसी हालत में ज्ञानी भी काम तथा क्रोध से छुटकारा नहीं पायेंगे। वे भी उसके फन्दे में आएँगे।

वस्तुतः वह ज्ञानी नहीं होगा। ज्ञानियों के पास वृत्तिज्ञान का बन्धन तथा व्यामोह कैसे रहेंगे ? अतः ऐसे अज्ञानीको ही

ये खा डालेंगे। ज्ञानी होने का अभिमान व्यक्ति को अज्ञानी बना देता है। २५८.

हे चिखलेंवीण रोंविती। पाशेंवीण गोंविती।
हे कवणाजोगें नोव्हती। आंतुवटपणें॥ ५९॥

कीचड बिना ये फंसाते हैं। यहां बांधने के लिये पाश आवश्यक नहीं। इनकी किसी से भी तुलना नहीं हो सकती।

काम तथा क्रोध दोनों विलक्षण हैं। हम यह कभी समझ नहीं सकते कि वे कहाँ से और कैसे आये। कब तक उनका निवास है? यह स्पष्ट नहीं हो सकता। इतनाही नहीं क्षणभर भूल हो जाय तो वे तत्काल अपना आसन जमा लेते हैं। जहाँ जहाँ हम अपनी सत्ता खो बैठते हैं, वहाँ वे उपस्थित हो जाते हैं। जीवन के विविध विचारों व भावोंका सौन्दर्य निरखते निरखते ही हम उसमें लीन हो जाते हैं। ऐसी संमोहावस्था में उनको अपना आसन जमाने में कठिनाई नहीं होती। वे हमारा मन नष्ट कर देते हैं। जीवन के ऊपरी संमोहन में लगे हुये हम, काम के जाल में फंसते जाते हैं। हमारे मन का संयत स्वरूप नष्ट हो जाता है और हम जीवन के (संकलन) संतुलन को ब्रह्म की बराबरी, समानता पा नहीं सकते। इन्हें फँसाने के लिए कीचड की आवश्यकता नहीं। और बाँधने के लिए पाश भी नहीं चाहिए। हम स्वयं अपने को खो बैठते हैं। वे अत्यन्त सामर्थ्य सम्पन्न हैं। उनकी तुलना नहीं हो सकती।

अगर श्री गुरुदेव कृपादृष्टि से निरखकर प्रसाद करें

तो इनको अपना कार्य बन्द करना पडेगा। २५९.

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।। ३८ ।।

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि अच्छादित रहती है, धूल से दर्पण आच्छादित रहता है तथा जेरसे गर्भ आच्छादित रहता है। इसी प्रकार इस वैरी काम से ज्ञान आच्छादित रहता है। ।। ३८ ।।

(यथोल्बेनावृतो गर्भः)
जैसी चंदनाची मुळी । गिवसूनि घेपे व्याळी ।
नातरी उल्बाची खोळी । गर्भस्थासी ।। ६० ।।

चन्दन की जड जिस प्रकार सर्पोंसे घिरी रहती है या गर्भस्थ आत्मा को गर्भवेष्टन का आवरण रहता है –

काम तथा क्रोध दोनों अत्यन्त सूक्ष्म तथा सर्वव्यापक हैं। कोई चीज क्यों न हो, उनमें उनका अस्तित्व है। काम और क्रोध ने न केवल व्यक्ति को संमोहित किया है, ज्ञान को भी मोहित कर दिया है। ज्ञान कभी अकेला नहीं रहता। उसके साथ काम क्रोध के भी चित्र पाये जाते हैं। जैसे गर्भस्थ जीव आत्मा पर आवरण है वैसेही बन्धन आता ही है। काम का संमोहन ज्ञान के ऊपर रहा करता है। चन्दन हमेशा सर्प से वेष्टित रहता है। ज्ञान जैसा चन्दन भी काम जैसे सर्प से आवृत्त रहता है। यह देखा गया है कि ज्ञानी कहलाने वाले भी इससे मुक्त नहीं हुए। २६०.

(धूमेनेति)

कीं प्रभाविण भानु । धूमेविण हुताशनु ।

जैसा दर्पण मळीं हिनु । कहिंच न दिसे ।। ६१ ।।

प्रभा के सिवा सूर्य या धुंएँ के सिवा अग्नि नहीं रहता। दर्पण के ऊपर भी मैल रहता है किन्तु सूक्ष्मता से वह दिखता नहीं।

क्या कभी यह देखा गया है कि सूर्य है किंतु उसका प्रकाश ही नहीं। प्रकाश के बिना उसका अस्तित्व नहीं ही है। सूर्य तथा प्रकाश एकात्म हैं। वहाँ भिन्नता का भाव नहीं। क्या धूएँ के बिना अग्नि संभव है ? जहाँ जहाँ धुंआ है वहाँ वहाँ अग्नि का अस्तित्व है। दर्पण के ऊपर मल रहता है। बिना मल का दर्पण नहीं है। सूक्ष्म रूप में तो मल का अस्तित्व जरूर होगा। अन्यथा नहीं। वैसे तो जरूर स्पष्ट करना पडेगा कि ज्ञान को आत्मज्ञान नहीं कहना चाहिए। वृत्ति ज्ञान में काम तथा क्रोध का रहना सर्वथा संभव है। वृत्ति मलिन होने पर उसका प्रकाश नष्ट होजाता है। संयत जीवन की गति अवरुद्ध होने लगती है। इस हालत में अभ्यास को अपनाना आवश्यक होता है। अन्यथा मन की क्षमता ही क्षीण हो जायेगी। पराधीनता आ जायेगी। अतः अभ्यास के द्वारा जीवन की साधना अपनाना उचित है। इससे स्वाभाविक वृत्तियाँ भी साधना में सहायक होंगी। वहाँ स्थित काम तथा क्रोध धीरे धीरे अपना रास्ता पकडेंगे और उनकी विनाशकारिता से हम बच जायेंगे। २६१.

(तथा तेनेदमावृतं)

तैसें इहींविण एकलें । आम्हीं ज्ञान नाहीं देखिलें ।
जैसे कोंडेनि पांगुतलें । बीज निपजे ॥ ६२ ॥

उसी प्रकार काम-क्रोध के सिवा अकेला ज्ञान नहीं । भूसे के अंदर बीज रहता है । काम-क्रोध का आवरण ज्ञान पर रहता है)

जीवन में ज्ञान अकेला दिखाई नहीं देता । जैसे भूसे के अंदर बीज दिखाई देता है उसी प्रकार काम-क्रोध से ही ज्ञान ढँका रहता है । अगर काम और क्रोध नहीं रहेंगे तो ज्ञान की सत्ता जरूर प्रतीत होगी । काम–क्रोध की यह महत्ता अवश्य जान लेना चाहिए । वैराग्य तथा संयत जीवन काम–क्रोध का दुस्तर संघर्ष (प्रहार) सहन करने में सहायता कर सकेगा । ज्ञान का उजियाला फैलाने के लिए इन दोनों, काम क्रोध को नष्ट कर देना ही सर्वथा उचित होगा । इस प्रयत्न में विलक्षण द्वंद्व है । द्वंद्वरहित होकर इन्हें हटाया जा सकता है । संघर्ष में तो उनकी ही जीत है क्योंकि वहाँ जो आवेश है, वह उनका सेवक है । अतः निर्द्वंद्व वृत्ति द्वारा समाधान होनेपर ही वे कामक्रोध अपने आप दूर जायेंगे । २६२.

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

जिसकी तृप्ति उपभोग के द्वारा असम्भव है, वह काम ज्ञानियों का नित्य शत्रु है, ज्ञान को आवृत्त रखता है ॥ ३९ ॥

(आवृतं ज्ञानमेतेन)
तैसें ज्ञान तरी विशुद्ध । परि इहीं असे प्ररुद्ध ।
(ज्ञानिनो नित्यवैरिणा)
म्हणोनि तें अगाध । होउनी ठेलें ।। ६३ ।।

वस्तुतः ज्ञान विशुद्ध है, परन्तु काम तथा क्रोध से आवृत्त होने से वह अत्यन्त निगूढ हुआ है ।

काम के अनेक रूप हैं । प्रत्यक्ष उपभोग भी काम है तथा उपभोग की तृष्णा भी काम है । इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त काम जीवन की सफलता का संहार करनेवाला है । जहाँ कहीं हम देखें, वहाँ काम की स्थूल सूक्ष्म सत्ता प्रतीत होती है । वहाँ निष्काम जीवन का दिखाई देना असम्भव है । काम से ढका हुआ ज्ञान इसलिए प्राप्य नहीं ।

वस्तुतः ज्ञान तो बिलकुल सहज, विशुद्ध तथा सुगम है । किन्तु काम की बाधा ज्ञान को अगाध बना देती है । ज्ञान की अपनी स्वभावसिद्ध शुद्धता, सहजता काम के द्वारा नष्ट होती है । इसलिए वह दुष्प्राप्य हो जाता है । बडे बडें विद्वान काम के संकेत पर चलते रहते हैं । जब तक निष्काम नहीं होते तब तक ज्ञान की सीमातक पहुँचना असम्भव है । जैसे कि प्रकृति सर्वत्र व्याप्त है और उसकी जडता हमें मर्यादित करती है, वैसे ही हमारे जीवन में काम का विरोध हमें एक प्रकार से जड बनाये रखता है । वह हमारा पीछा नहीं छोडता । हम उसके रहते हुए ज्ञान को ग्रहण करना चाहते हैं ।

क्या कभी 'काम' का कार्य 'ज्ञान' हो सकेगा ? अगर ज्ञान सहज, शुद्ध और स्वयंसिद्ध है तो फिर काम उसे कैसे प्राप्त कर सकेगा, उसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार संभव है ? अगर ज्ञान कामके द्वारा मिलता है तो, ज्ञान 'ज्ञान' नहीं वह काम की ही प्रतिकृति है। काम की विलक्षणता यहीं पर है। उसकी भूलभूलैया में हम मोहित हो जाते हैं। ज्ञान आवृतसा दीखता है। जीवन असफल रहता है। २६३.

आधीं यांतें जिणावें। मग तें ज्ञान पावावें।
(कामेत्यर्थं)
तंव पराभव न संभवे। रागद्वेषां ॥ ६४ ॥

अतः पहले पहल इन पर विजय करनी होगी। बाद में ही ज्ञान सुलभ होगा। तब तक राग द्वेष अपराजित रहेंगे।

काम की व्यप्ति और महत्ता कितनी प्रबल तथा श्रेष्ठ है, यह तो प्रकट है किन्तु यह भी स्पष्ट है कि जब तक हम उनको अपने अधीन नहीं करते, तब तक ज्ञान की असली सत्ता प्रतीत नहीं होती। ज्ञान तभी प्राप्त होगा जब कि हम निष्काम रहेंगे। निष्काम अवस्था में सहज शुद्ध ज्ञान की सर्व विलक्षण याने महान अलौकिक सिद्धि प्राप्त होगी।

वस्तुतः वह ज्ञान, वह स्वभाव-सिद्ध विलक्षण सहजता कहीं से प्राप्त होनेवाली चीज नहीं है। वह तो स्वयंभू है किन्तु हम समझ बैठते हैं कि वह परायी हो चुकी है। हम उसे अपने से बाहर समझ बैठे हैं। हमें उसे प्राप्त करना होगा। इस प्रकार इच्छा करके ही हम उसका पीछा करने लगते हैं। किन्तु

यह इच्छा भी एक प्रकार से काम का रूप है, अतः हम उस ज्ञान को अपनाने में असमर्थ हैं। अर्थात इच्छा की अधीनता स्वीकार करते हैं। काम को अपनाते हैं और चाहते हैं, निष्काम ज्ञान प्राप्त करें। वास्तव में जो ज्ञान अपनाही है, जो सहजता अपनी स्वाभाविक स्थिति है, उसे अपनाने में हमें काम की सहायता क्यों चाहिए ? क्या बिना काम के बिना इच्छा के वह हमारे पास नहीं है ? हम उसका साक्षात्कार बिना किसी की सहायता लिए कर सकते हैं। किसी की सहायता लिये बिना उसका साक्षात्कार हो सकता है। अगर हम सहायता लेते जायेंगे तो हमारी अपनी दुर्बलता काम को बढाएगी। वहाँ अपने आप इच्छा का निर्माण होगा। स्वभावसिद्ध सहजता में उस आनन्दघन ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। उसकी सिद्धि के लिए, काम की अधीनता नहीं चाहिए। इच्छा वहाँ बाधक है। हमें तो केवल उसके अनुसंधान में लगे रहना चाहिए। जब हम इस अपनेपन को जान लेंगे, उसकी तन्मयता में विलीन होंगे तब काम की गतिविधि अपने आप बन्द हो जाएगी। उसके अनन्त रूप अदृश्य होंगे और इन्द्रियों की मोहकता, नष्ट होती जाएगी। २६४.

यांतें साधावयालागीं। जैं बळ जाणिजे आंगीं।
तें इंधनें जैसीं आगीं। मावात्रो होय ॥ ६५ ॥

इन पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन साधनों का हम उपयोग करेंगे वे साधन ही उनके सहायक होते हैं। अग्नि बुझाने के लिए अगर हम उसमें ईन्धन डालेंगे तो—वह बुझ नहीं सकती।

यह तो स्पष्ट है कि ये दोनों बिलकुल विलक्षण तथा महापराक्रमी हैं। एक प्रकार से अजेय ही हैं। ऐसी हालत में उनसे संघर्ष करने से पराभव हमारा होगा। उनसे लडने से हानि हमारी होती है। जितना जोर लगाकर हम उनके साथ युद्ध करते जायेंगे, उतना ही उनका सामर्थ्य कई गुना बढता जायगा। अग्नि में हम इंधन डालते जायेंगे तो वह बुझ नहीं सकती। वस्तुत: हम बिना प्रयत्न, बिना संघर्ष केवल उस परात्पर श्रेष्ठ आत्मा के अनुसंधान में लगे रहें। हम अपना ही अपनापन अपनायें। इससे कामका विस्तार कम होता जाएगा। काम को नष्ट करने की चाह भी नहीं चाहिए। उसे जैसा हो वैसा ही रहने दीजिये। किसी प्रकार उसके पीछे न पडें, न उसे पुकारें। न तो उसे स्वीकार करें न उसे त्याग दें। किसी प्रकार द्वंद्व का निर्माण न करें। संघर्ष न बढायें। इससे वह अपने आप शासित होगा। वह लज्जित हो हमें छोडकर भाग जायगा। हमें उसे भगाने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए क्यों कि प्रयत्न के द्वारा उसे आव्हान मिल जायेगा। वह प्रबल होकर झगडने को तैयार होगा। उसका आवाहन न करें। वह जैसा है वैसा ही उसे रहने दें। इसमें ही हम अपना "काम" सिद्ध कर लेंगे। ज्ञान की असली सत्ता अनुभव करेंगे। जीवन की सफलता को अपनायेंगे। ऐसा आप्तकाम मनुष्य ही काम का विलक्षण सौन्दर्य देखता है। सत्य की नित्यनूतन आभा को अपनाते हुए जीवन के विविध विलास तथा मंत्र उस के जीवन को मन्त्रमुग्ध करेंगे। २६५.

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि इसके अधिष्ठान हैं। इनके आधार पर, ज्ञान को आच्छादित करते हुए जीवात्मा को वह लुभाता है ॥ ४० ॥

तैसे उपाय कीजती जे जे ।
(एतैरित्यर्ध) तयांशीच होती विरजे ।
म्हणोनि हटयांतें जिणिजे । इहींचि जगीं ॥ ६६ ॥

उसी प्रकार यहां जो उपाय होंगे, वे अपायकारी ही बनते हैं। अतः अपने हठ को ही–आग्रही वृत्ति को ही–पराभूत करना चाहिये। (काम क्रोध के पहले इस जगत में हठ पर ही विजय करनी होगी।)

यह तो स्पष्ट है कि काम का निवास इन्द्रियों में है। मन तथा बुद्धि दोनों उनके अधिष्ठान है। इन तीनों को वह विमूढ बना देता है। जिससे इन्द्रियों का भोग कई गुना बढता है। मन की चाह दिनबदिन तीव्र तथा आसक्ति से परिपूर्ण होती है। बुद्धि से सच्चे ज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता। वह झूठे ज्ञान को अपनाती है, और इन्द्रियों के पीछे मन, मन के पीछें बुद्धि और बुद्धि के पीछे जीवात्मा दौडते रहते हैं। इस से न प्यास बुझती है, न तृप्ति होती है। जीवन को विकल, अतृप्त तथा श्रान्त करने वाला काम है।

जैसे जैसे काम बढता जाता है, वैसे वैसे अभिमान भी

बढता जाता है । जो कुछ किया जाता है, वह इस अभिमान की तृप्ति के लिये है । इतना ही नहीं भजन, पूजन, कीर्तन यह सब कुछ केवल अहन्ता के पोषण के लिये होता है । इन परमार्थ के साधनों से 'अहं' को हटाया नहीं जाता । काम को निकाला नहीं जा सकता । यहाँ जो जो उपाय उसको भगाने के लिये किये जाते हैं, उन्हें सफलता कभी नहीं मिलती । काम का बल प्रतिपल बढता है । वह विनष्ट नहीं होता । यह देखने से साधक को ही लज्जा उत्पन्न होती है । वही लज्जित होता है । क्यों कि वह समझता है कि "मैं इतने उपाय करता जाता हूँ, परंतु ये उपाय अपाय बन कर मुझे ही क्षति पहुँचाते हैं । ये सभी एक प्रकार से अहं के पोषक हैं क्यों कि जो उपाय किये जाते हैं, वे एक प्रकार से व्यक्तितत्व की परिपुष्टि करते हैं । मन की चाह, बुद्धि का अयथार्थ निश्चय तथा इन्द्रियों का व्यामोह, ये सब कुछ काम के सहायक हैं न कि विरोधी । इनके द्वारा काम की पुष्टि होती है । उसमें ही व्यक्तितत्व का अभिनिवेश है । यह तो अहं का पोषण ही है । वस्तुतः यह ध्यान में आता है और नहीं भी । यहाँ साधक इतनी विचित्र स्थिति को प्राप्त होता है कि "क्या किया जाय" यह उसकी समझ में ही नहीं आता । यह समझ भी काम है क्यों कि वह क्षोभ है । क्षोभ याने क्रोध और क्रोध तो काम ही है ।

जीवन का पुरुषार्थ, परमार्थ की परीक्षा में सफल होगा ! परमार्थ तभी अपनाया जाता है जब कि हम बिलकुल निष्काम बनें । ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम व भक्ति का निर्माण होना

कोई आसान बात नहीं। वस्तुतः साधक कहता है कि प्रेम ईश्वर का रूप है। किंतु प्रेम की परिधि न तो उसे ज्ञात है न उसने उसका अनुभव किया है। इस स्थिति में परम-प्रेम-रूपा भक्ति कैसे संभव है ? वह जो कुछ समझता, चाहता और करता है उससे उसकी समझ, चाह तथा कर्म ही प्रतीत होते हैं न कि ईश्वरीय सत्ता। ईश्वरीय सत्ता में समझ नहीं है, चाह नहीं है तथा कर्म भी नहीं। इसलिय ये सारे कर्म साधक के अहं को प्रकट करते हैं। काम को हटाते नहीं। उसके साधन सूक्ष्म नहीं होते क्यों कि वे भी सकाम हैं।

निष्काम अनुष्ठान कर्मयोग का त्याग है। वहां जीवन जीवात्मा से संपर्क स्थापित करता है। यहीं पर परमार्थ के प्रसाद के चिन्ह दिखाई देंगे। जीवन फलता फूलता जायेगा और अपने असीम सौंदर्य से सर्वत्र प्रसन्नता अंकुरित करता रहेगा। जीव की यह मंगल तथा शांत स्थिति किसे न भायेगी ? २६६

ऐसिया सांकडां बोला। एक उपाय आहे भला।
तो करितां जरी आंगवला। तें सांगेन तुज ॥ ६७ ॥

इस संकट के लिये एक अच्छासा उपाय है ही। अगर तुझे पसंद आयेगा तो कहूं।

काम की गति अत्यन्त गहन है। उसकी दासी इच्छा सर्वत्र संचार करती रहती है। उसके बिना कुछ नहीं होता। काम से छुटकारा पाने का प्रयास विफल होता है। हम प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे प्रयास ही हमें क्षुब्ध कर देते हैं। दूसरों को

हम व्यर्थ कोसते हैं। दूसरों के द्वारा ही देखते हैं, करते हैं और फटकारते भी हैं। अपने स्वभाव को देखने पर अपने व्यक्तित्व को पहचानने पर उनसे हटने की दृढता प्राप्त होगी। तभी उपाय बन पायेगा।

यह जो उपाय है, वह किस प्रकार का है ? वह किस प्रकार अनुष्ठित किया जाये ? अगर तुम सुनने के इच्छुक हो तो सुनो। इन उपायों के लिये अभ्यास होना चाहिये। अभ्यास के सिवा यह सफल नहीं हो सकता। २६७.

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

अत: हे भरतश्रेष्ठ, तू पहले पहल इंद्रियों का नियमन कर और ज्ञान विज्ञान को नष्ट करने वाले इसी पापी काम को विनष्ट कर ॥ ४१ ॥

(इन्द्रियाणीत्यर्धं)
तरी ययांचा पहिला कुरठा इंद्रियें।
येथूनि प्रवृत्ति कर्मातें विये।

(तस्मादित्यर्धं)
आधीं निर्दळुनि घाली तिये। सर्वथैव ॥ ६८ ॥

इनका मुख्य आश्रय इन्द्रियाँ है। इन्द्रियों से ही कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इंद्रियों की प्रवृत्ति ही सर्वथा नष्ट की जाय।

इन्द्रियाँ काम के निवास स्थान हैं। काम की प्रवृत्ति पहले पहल यहीं से बढती है। इंद्रियों की अपनी सत्ता कहां है?

किन्तु वे काम के कारण विषयों की ओर खिचती हैं। विषयों की ओर इंद्रियों का आकर्षण बहुत ही प्रभावशाली होता है। तृष्णा विषयों का संग बढाये रखती है। वस्तुत: विषयों से संबंध तो प्रकृति के कारण होता है। जब तक जीवन है, तब तक विषयों का भोग इन्द्रियों द्वारा होता ही है। किन्तु यह भोग सकाम रहता है। तृष्णा को बढाता है। वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के लिये ही पर्याप्त नहीं रहता। इन्द्रियों के द्वारा सकामता बढती है। इस सकामता से कर्मों में प्रवृत्ति बढती ही जाती है। उसमें फिर विफलता आती है।

वस्तुतः विषयसेवन भी त्यागमय हो सकता है। उसमें निष्कामता होनी चाहिए। अपने स्वभाव के सहज आविष्कार के रूप में कर्म होना चाहिये। उसमें प्रवृत्ति की प्रेरणा नहीं होनी चाहिए। काम, क्रोध, लोभ और प्रेरणा ये सब कर्मों की प्रवृत्ति बढाते हैं। इस से विषयों के साथ इन्द्रियों के द्वारा संसर्ग प्रस्थापित होता है। इन्द्रियों की विषयों से एकात्मता अनर्थकारी है। यह एक प्रकार की विषयात्मकता है। इसलिए इन्द्रियों का नियमन अत्यावश्यक है। इन्द्रियों का नियमन अगर व्यवस्थित होगा तो मन भी अपने आप उदासीन हो जायेगा। वह भी विषयों की ओर से मुंह फेर लेगा। अपने में ही लीन होकर मन अन्तर्मुखी होकर प्रसन्नता की खोज करता जायेगा।

हे अर्जुन, तू भरत-कुल में पैदा हुआ है। इस अनुपम योग को अपनाने का सामर्थ्य तुम्हारे पास निश्चित है। जीवन की यह सर्वश्रेष्ठ धारणा अपनाने का प्रयास जरूर किया जाय।

वस्तुतः इन्द्रियाँ तथा अर्थ, इन दोनों का परस्पर कैसा सम्बन्ध है ? इन्द्रियाँ तथा अर्थों के सम्बन्ध से राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति पैदा होती है। हमें सम्बन्ध दूर नहीं करना है। राग और द्वेष को निर्मूल करना है। किन्तु ये तब तक निर्मूल नहीं हो सकते जब तक हम निष्काम नहीं हो जाते। अतः आवश्यक है कि इन्द्रियों को ही नियमित करें। यह नियमन एक प्रकार की हमारी परीक्षा है। नियमन से किसी भी प्रकार क्षोभ नहीं होना चाहिये। अगर क्षोभ पैदा हो जायेगा तो "राग" अर्थात आसक्ति बढती रहेगी। नियमन सहज स्वाभाविक रूप में होगा। यहां तक कि नियमन हो रहा है यह भी ज्ञात न हो। दूसरे शब्दों में यह स्पष्ट किया जा सकता है, कि हमारे प्रत्येक कर्म में या इन्द्रियों के विषय संपर्क में बिलकुल साक्षीत्व का ही भाव होना चाहिए। उसमें किसी भी प्रकार का दबाव न हो, विरोध न हो तथा आसक्ति भी न रहे। जो कुछ हो रहा है, उसे होने दो, किन्तु उसके पीछे अपने मन को न लगाओ। किसी भी प्रकार प्रवृत्तियाँ वहां न रहें। वासनाएं प्रबल न होने पायें। इससे इन्द्रियों का विषयों के साथ जो सम्बन्ध होगा वह बिलकुल स्वाभाविक होगा। वह निष्काम होकर ही रहेगा। इस निष्कामता में इन्द्रियों का भोग न होगा। इससे राग या द्वेष का भी निर्माण न होगा। ऐसी हालत में सहजसिद्ध साक्षीभाव अपने आप प्रतीत होगा। पुरुषार्थ का यह दिव्य प्रयास अपने आप सफल होता जायेगा। हरेक कर्म निष्काम होगा। यहाँ कर्मों का आधार इन्द्रियाँ न

होंगी तो केवल पुरुष ही रहेगा। हरेक कर्म में कैवल्य का बोध होगा। इन्द्रियाँ निर्विषय होती जायेंगी। बुद्धि अयथार्थ ज्ञान को छोडकर प्रज्ञानघन लक्षण परब्रह्म की ओर संकेत करती हुई आत्मनिष्ठ बन जाती। और इससे ही जीवन की सफलता का पग पग पर अनुभव किया जायेगा। सर्वत्र वही विलक्षण सत्ता प्रतीत होगी। इन्द्रियों का अर्थ अब परमार्थ बन कर पुरुषार्थ को सिद्ध करता जायेगा। जीवन भर का आत्मभोग त्याग बन कर, प्रसन्नता का पोषण करता रहेगा।

अतः यह स्पष्ट है, कि इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति ठीक रूप से पहचानी जाये। वस्तुतः न हम इन्द्रियों का त्याग कर सकते हैं न विषयों को छोड सकते हैं। इसलिए इस बात की नितांत आवश्यकता है, कि हम किसका त्याग करें, यह स्पष्ट रूप से समझ जाँय। व्यवहारतः हमें साक्षित्व भाव से रहना चाहिए। आशय यह है कि जहाँ तक हो सके, केवल निष्काम रहकर ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति देखते रहें। सावधानी से इस बात को निरखें कि इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ कैसी होती है ? कौनसी प्रेरणा में उन्हें प्रवृत्त करना है ? इन बातों की ओर ध्यान से देखें। किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। इस प्रकार क्रमशः नियमन होगा तो इस संयम से क्षोभ पैदा नहीं होगा। निष्कामता क्रमशः उदित होगी। यहीं पर निरीक्षण की सफलता है।

हम सावधान होकर आत्मीयता से निरीक्षण करें। केवल साक्षीत्व का अधिष्ठान इन्द्रियों का दमन करने में निःसंदेह

सफल होगा । इस नियमन से कर्मों की सकामता नष्ट होगी । कर्मों की प्रवृत्ति नष्ट होगी । निष्कामता का अपने आप निर्माण होगा । काम का सर्वथा उच्छेदन होगा और पुरुषार्थ की प्राप्ति के मार्ग की रुकावटें दूर होती जाएंगी ।

अतः हे अर्जुन, हे भरतवंश में श्रेष्ठ, तू इन्द्रियों का इस प्रकार निर्मूलन कर, क्यों कि काम का अधिष्ठान इन्द्रियाँ ही हैं । इन्द्रियों का निर्मूलन तथा नियमन हो जाने से, काम भी निष्काम होगा । यह अपने आप भाग जाएगा । अतः तू इस का विशेष रूप से अभ्यास कर । अभ्यास को अपना । अभ्यास के द्वारा ही स्वभाव को अपनाया जाता है । २६८.

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

विषयों से इन्द्रियाँ (सूक्ष्म) श्रेष्ठ हैं । इन्द्रियों से मन (परे) श्रेष्ठ है । मन से परे बुद्धि है और आत्मा बुद्धि से भी परे है ॥ ४२ ॥

(इन्द्रियाणीति)
मग मनाची धांव पारुषैल ।
आणि बुद्धीची सोडवण होईल ।
इतुकेनि थारा मोडेल । या पापियांचा ॥ ६९ ॥

इससे मन की गति रुद्ध होगी । बुद्धि स्वतन्त्र होगी । और इन पापियों का आधार नष्ट हो जायेगा ।

वस्तुतः इस संसार में कर्म करना ही पडता है । काम का प्रभाव तो स्वभावतः ही दिखाई देता है । ऐसी अवस्था में

हम परमेश्वर से प्रेम करने का प्रयास करते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि प्रेम किया नहीं जाता, वह होना चाहिए। हमारे जीवन में हम प्रेम की परिणति देखते हैं और मानते हैं कि इस प्रकार वह ईश्वरीय प्रेम होता जाएगा। किन्तु यह सरासर भूल है। क्यों कि हमारे जीवन में जो प्रेम है वह काम का एक रूप है। निर्लेप तथा निःसंग प्रेम काम की परिधि में रह ही नहीं सकता। हमें इस संबंध में अन्धानुसरण नहीं करना चाहिए। यथार्थ रूप से काम का अधिष्ठान जानकर, उसे मानने के लिए उचित प्रबन्ध करना चाहिए।

यह तो हमने देखा है कि इन्द्रियाँ, मन, और बुद्धि ये काम के अधिष्ठान हैं। इनके द्वारा काम का संमोहन होता है। इन्द्रियों का झुकाव विषयों की ओर है। मानों विषय तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध निरन्तर है। दोनों के सन्दर्भ में "अर्थ प्राप्ति" होती है। विषयों के सेवन से द्वेष का ही हम आवाहन करते हैं। इस सम्बन्ध में इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन अधिक सहायता देता है उसके विकृत संकल्प विकल्प उसके राग द्वेष, भावना, वासना और विकार इनके द्वारा विमूढ चिन्तन चलता होता है। विषयोपभोग के लुभावने चित्र मनके द्वारा खींचे जाते हैं। इस प्रकार मन के बार बार सम्बन्धित होने से बुद्धि भी व्यामोहित होती है और अपना पूरा निश्चय प्रकट करती है। अयथार्थ को अपनाती है। इस प्रकार काम के प्रभाव से भूले हुए तीनों इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि–काम क्रोध, लोभ जीवात्मा को एक प्रकार से छेडते रहते हैं।

इन्द्रियों से बढकर मन, मन से बढकर बुद्धि और बुद्धि

से भी श्रेष्ठ आत्मा है। यह श्रुति का कथन है। जीवन के निष्काम कर्मों में आत्मसाम्य का विलास ही दिखायी देगा। यदि वह सकाम हो तो काम के बन्धन में देर नहीं लगती। इसलिए पहले पहल काम की प्रवृत्ति बढाने वाली इन्द्रियों का नियमन होना उचित है। इन्द्रियों के नियमन से मन इन्द्रियों के पीछे नहीं जाएगा। राग द्वेप अपने आप ही स्थिर होते जाएंगे। मन की बहिर्मुखता नष्ट होगी। वह अन्तर्मुखी होगा। बुद्धि जो पगली हुई थी और मन के पीछे पडती थी वह अब संयत बनकर स्थिर होती जाएगी। इस प्रकार तीनों का अर्थात मन बुद्धि इन्द्रियों का यह अन्तर्मुख अनुसन्धान आत्मीय सत्ता में केंद्रित होगा। आत्मसत्ता, सबसे श्रेष्ठ है। सत्य से बढकर कुछ नहीं, सदैव सत्य की विजय है। इससे काम का विनाश अपने आप हो जाता है, उसके अधिष्ठान उसके नहीं होते।

बुद्धि द्वारा सच्चिदानन्द घन परमात्मा को ही लक्ष्य बनाना होगा। आत्मीयता के उल्लास में आनन्द की सरिता प्रबोध रूप से बहती जाएगी। अन्यथा बुद्धि तो झट विषयों का ही निश्चय करती है। अतः उसे सावधान करके जीवन के अन्तर्गत सत्य को अपना कर काम के फन्दे को काट कर महान् ईप्सित साध्य प्राप्त करना चाहिए। एक बार यदि बुद्धि उस आनन्द तत्व को प्राप्त हुई तो फिर प्रश्न ही नहीं उठ सकता। कामादि रिपुओं का अधिष्ठान ही नष्ट हो जायेगा।

आनन्द के अवगाहन में बुद्धि तल्लीन हो जायेगी। बुद्धि में मन और मनमें सारी इन्द्रियाँ लीन हो जायेंगी। ऐसी

स्थिति में काम और क्रोध रहेंगे कहाँ ? ।। २६९.

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। ४३ ।।

अत: हे महाबाहो ! अर्जुन ! बुद्धि से भी श्रेष्ठ सूक्ष्म) आत्मा को जानकर आत्म-ज्ञान के द्वारा ही कामरूपी बलवान शत्रु को तू नष्ट कर । आत्म ज्ञान से सच्ची निष्कामता सम्भव है ।। ४३ ।।

(संस्तभ्यात्मानमात्मना)
हे अन्तरींहुनि जरी फिटलें ।
(जहीत्यर्ध) तरि निभ्रांत जाण निवटलें ।
जैसें रश्मीविण उरलें । मृगजळ नाहीं ।। ७० ।।

इनका विसर्जन अन्त:करण से होना चाहिए । एक बार ये हट जायें तो वे सदा के लिये नष्ट होंगे (आत्म दर्शन से ही यह सम्भव है) । सूर्य किरण के नष्ट होने पर मृग जल नहीं रहता ।

बुद्धि से बढकर आत्मा है । काम की सत्ता, आत्म सत्ता पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती । आत्मज्ञानी पुरुष कामादि रिपुओं से पीडित नहीं होते । काम उनके पास जाएगा नहीं । एक बार यदि ये रिपु नष्ट होंगे तो फिर से वे नहीं आयेंगे । आवश्यक है कि उनका विसर्जन अन्त:करण से तथा आत्मदर्शन से ही हो । क्योंकि तभी किसी प्रकार की आशा या दुराशा नहीं हो सकती । वासनाएँ नहीं रहतीं, कामना नहीं होती । मृगजल सूर्य किरणों से अलग नहीं हो सकता ।

सूर्य ही न हो तो किरणें कहां से रहेंगी। किरणें न होंगी तो मृग जल नहीं होगा। २७०.

जैसे राग द्वेष जरि निमाले।
(एवं बुद्धेः परंबुद्ध्वा) तरी ब्रह्मीचे स्वराज्य आलें।
मग तो भोगी सुख आपलें। आपणचि ॥ ७१ ॥

राग-द्वेष के नष्ट होते ही ब्रह्म स्वराज्य प्राप्त होता है। यह जिसे प्राप्त है, वह अपना ही सुख अपने में ले सकता है।

इस प्रकार बुद्धि अपने मन में स्थिर हो गई तो फिर वह विचलित नहीं होगी। आत्म सत्ता के प्रवाह से बुद्धि अन्तर्मुखी होकर ही रहती है। मन बुद्धि के अधीन रहता है, जिससे संकल्प विकल्प पैदा नहीं होते। विकृत विकारों से जीवन क्षुब्ध नहीं होता। वह अब प्रेम से सम्पन्न हो जाता है, ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण है। राग द्वेष का कारण ही नहीं रह जाता। ब्रह्म के स्वराज्य में जीवन की गति परिणत हो चुकी है। उसमें अपना चित्त स्थिर करते हैं तो हम आनन्द प्राप्त करते हैं। आन्तरिक आनन्द से तृप्त और पूर्ण काम हो जाते हैं। २७१.

जे गुरुशिष्याची गोष्टी। पिंडापदाची गांठी।
तेथें स्थिर राहोनि नुठी। कवणें काळीं ॥ ७२ ॥

यहां का श्री सद्गुरु तथा शिष्य का सुखसंवाद जहां आत्म पद का एकात्म भाव रहता है वहीं अपने मन को स्थिर करो। वहां से कभी हटो मत।

जीवात्मा इस समय परमात्मा ही हो जाता है। फिर

एक विलक्षण एकात्मता का अनुभव होता है। आत्मज्ञान के द्वारा जीवन की सम्पूर्ण अनुभूति वहाँ प्राप्त होजाती है। गुरु तथा शिष्य की एकात्म अनुभूति आत्म ज्ञान से स्थिर होती है। शिष्य को आत्मज्ञान होने पर वह गुरु बन जाता है। एकात्मता का जयघोष ही वहाँ सुनाई देता है। या यों कहें कि आत्मज्ञान के द्वारा जिस अनुभूति को प्राप्त किया जाता है, वह जीव ब्रह्मैक्य है। इस सनातन तथा नित्य नूतन अनुभूति की ओर संकेत करना है। इस सनातन अनुभूति को सदा के लिये अपनाना ही उचित है। २७२.

ऐसें सकळसिद्धांचा रावो। देवी लक्ष्मीयेचा नाहो।
राया ऐकें देवाधिदेवो। बोलता जाला।। ७३ ।।

सकल सिद्धों के अधिपति, श्री लक्ष्मी के पति देवाधिदेव श्री भगवान् कह रहे है कि राजन्, सुनिये।

सकल सिद्ध पुरुषों के अधिपति भगवान हैं। वे ही योगेश्वर कहलाते हैं। भगवती लक्ष्मी के नाथ पतित पावन योगेश्वर श्रीकृष्ण, देवाधिदेव इस प्रकार कह रहे हैं। इधर संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं तुम ध्यान देकर सुनो। २७३.

(उत्तराध्यायबीजं)

आतां पुनरपि तो अनंत। आद्य एकी मात।
सांगेल तेथ पंडुसुत। प्रश्न करील।। ७४ ।।

फिर से श्री अनन्त और एक सनातन कथा सुनायेंगे। अर्जुन जी भी कुछ पूछेंगे।

अब फिरसे वह अनंत परमेश्वर श्रीकृष्ण और एक अत्यंत सनातन कथा सुनायेंगे। उस समय अर्जुन भी शिष्य भाव से योग्य प्रश्न कुछ पूछेगा। जिससे जीवन के नित्य नूतन तथा अंतर्निगूढ सत्य की सुखध्वनि सुनाई पडेगी। अर्जुन का समाधान एक प्रकार से निमित्त कारण है। उसे जीवन का परमोच्च तत्वज्ञान भगवान श्रीकृष्ण के मुंह से सुनने को मिलता है। २७४.

तया बोलाचा हन पाडु। कीं रसवृत्तीचा निवाडु।
येणें श्रोतयाँ होईल सुरवाडु। श्रवणसुखाचा ।। ७५ ।।

उस नितांत रमणीय संवाद के रसपूर्णवृत्त का वर्णन क्या किया जाय ? श्रोता को वहां श्रवण-सुख का विपुल प्रत्यय सुलभ होगा।

जब प्रत्यक्ष परमेश्वर ही बोल रहे हैं। तो उसकी मधुरता का वर्णन कैसे हो ? जिस विषय का वे प्रतिपादन करते हैं, वह भी जीवन से सम्बन्धित है। इस गहन तथा अन्तिम ज्ञान का सर्वांगपूर्ण विश्लेषण करने में, उनके अतिरिक्त और कौन समर्थ है ? विविध रसों का पोषण करते हुए, जीवन का जो स्थाई भाव सत्य अर्थात आत्मा है, उसके प्रति प्रेम स्थिर करने के लिए यह विलक्षण संवाद हो रहा है। सुनने में यह इतना मधुर है, कि उसके सामने अमृत भी फीका है। श्रवण को भी एक प्रकार का सुख मिलता हैं। किन्तु यहाँ ऐसे काव्य का श्रवण करना है, जिसके सुनने में समाधि अपने आप सिद्ध हो जाती है। सुख भी अपने आप आजाता है। अमृत का महोदधि मानो इस गंगा

में अवतीर्ण हो गया है। २७५.

ज्ञानदेव म्हणे निवृत्तीचा ।
चांग उठावा धरूनि उन्मेषाचा ।
मग संवाद श्रीहरिपार्थाचा । भोगा बापा ।। २७६ ।।

श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य श्रीज्ञानदेवजी कहते हैं कि नये नये उन्मेष से ही श्रीहरि तथा पार्थ के इस सुसंवाद का अनुसंधान करो ।

श्री ज्ञान-देवजी सब से कह रहे हैं कि नया उन्मेष पैदा करके ही इस संवाद का अनुसंधान करो । यहाँ एक विलक्षण प्रतीति का दर्शन है । मन की अत्यन्त तरल तथा सार्वगामी शक्ति का आवाहन करते हुए इस चिरन्तन अनुभूति को अपनाओ । बुद्धि को इस महान ज्ञान राशि का अनुभव करने के लिए सूक्ष्म करके स्थिर करो । ओर फिर यह सुख प्राप्त करानेवाला संवाद अनुभव करो । २७६.

हरि ॐ
इति कर्मयोगोनाम तृतीयोऽध्याय: ।
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

इति श्री गीता भावार्थ दीपिकायां ज्ञानदेव विरचितायां कर्मयोगो नाम तृतीयोध्याय: ।

"पुंडलीक वरदे हरि विठ्ठल"

आरती संत श्री ज्ञानेश्वर महाराज की

आरती ज्ञानराजा ।
महाकैवल्यतेजा ।
सेविती साधुसंत ।
मनु वेधला माझा ।
आरती ज्ञानराजा ।। १ ।। धृ०

लोपलें ज्ञान जगीं ।
हित नेणती कोणी ।
अवतार पांडुरंग ।
नांव ठेविलें ज्ञानी ।
आरती ज्ञानराजा ।। २ ।।

प्रगट गुह्य बोले ।
विश्व ब्रम्हचि केलें ।
रामा जनार्दनीं ।
पायीं मस्तकचि ठेलें ।
आरती ज्ञानराजा ।। ३ ।।

॥ पसायदान ॥

आतां विश्वात्मके देवे । येणे वाग्यज्ञे तोषावे ।
तोषौनि मज देयावे । पसायदान हे ॥ १ ॥

जे खळाची वेंकटे सांडो । तया सत्कर्मी रती वाढो ।
भूतां परस्परे पडो (जडो) । मैत्र जीवाचे ॥ २ ॥

दुरितांचे तिमिर जावो । विश्व स्वधर्म सूर्ये पाहो ।
जो जे वांच्छील ते तो लाहो । प्राणिजात ॥ ३ ॥

वर्षत सकळ मंगळी । इश्वर निष्ठांची मांदीयाळी ।
आनवरत भूतळी । भेटतु भूतां ॥ ४ ॥

चळा कल्पतरूचे अरव । चेतना चिंतामणीचे गांव ।
बोलते जे अर्णव । पियूषाचे ॥ ५ ॥

चंद्रमे जे अलांछन । मार्तंड जे तापहीन ।
ते सर्वांही सदा सज्जन । सोयरे होतु ॥ ६ ॥

किंबहुना सर्व सुखी । पूर्ण होउनि तिही लोकी ।
भजिजो आदिपूरुषी । अखंडित ॥ ७ ॥

आणि ग्रंथोपजीविये । विशेषी लोकी ईये ।
दृष्टादृष्टीविजये । हो आवे जी ॥ ८ ॥

येथे म्हणे विश्वेशुरावो । हे होइल दानपसावो ।
येणे वरे श्रीज्ञानदेवो । सुखिया जाला ॥ ९ ॥

॥ श्री ज्ञानेश्वरी ॥

पसायदान

संतप्रवर श्री ज्ञानदेवजी विश्वात्मक परमात्मरूप श्रीगुरु निवृत्तिनाथ से प्रार्थना कर रहे हैं, "हे भगवन्, आप इस वाग्यज्ञ से प्रसन्न हो जाइये। पूर्ण तुष्ट होकर मुझे यह पसायदान दीजिये। इस जगत् में दुष्टों की पाप प्रवृत्ति नष्ट हो जाय ! सत्कर्मों के प्रति उनमें लगन बढे। प्राणियों में परस्पर प्रेम तथा मित्रता बढे। पाप प्रवृत्ति का अन्धकार हट जाये। स्वधर्मरूपी सूर्य की आभा से समूचा विश्व उज्वल बने। मनुष्य की सभी इच्छाएँ परितृप्त बनें। सर्वत्र मांगल्यकी वृष्टि करनेवाले ईश्वरनिष्ठ सत्पुरुषों का दर्शन प्राणीमात्र के लिये सर्वदा सुलभ रहे। वे वस्तुतः जंगम कल्पतरु हैं। चैतन्यमय चिंतामणि समूह हैं। अमृत के ही समुद्र हैं, जो बोल भी सकते हैं। चंद्रमा हैं किन्तु निष्कलंक। सूर्य है किन्तु ताप रहित। सदा सभी के सुहृद हैं, सज्जन हैं। अलम् विस्तरेण, तीनों लोकों में पूर्ण तृप्त हैं। पूर्ण काम हैं। अखंड अद्वय तत्व आदि पुरुष के वे संतत समाराधक हैं। इस ग्रंथ के उपासकों को ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त हो। सर्वत्र उनकी विजय हो। इस पर संत श्रेष्ठ श्रीगुरु निवृत्तिनाथजी ने प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया—एवमस्तु। गुरु-प्रसाद प्राप्त करने पर श्री ज्ञानदेव जी को अत्यन्त सुख मिला।

'पुंडलिकवरदे हरि विठ्ठल'

——:●:——

जिज्ञासा पूर्ति

नाटयदीप

जसें नाटक गृहच एक तेथें तर अहो – (साक्षी).

नित्य निरंजन साक्षी दीप प्रकाशित दिननिशी ।
शोभे नाटक शाला कशी ।। धृ० ।।

रंगभूमीवरी बुद्धि थैं थै नाचे कुलटा जशी ।
न कळे रंभा कीं उर्वशी ।
नाना परिचे विकार दाऊनि प्रेक्षक पाडी फशी ।
विरळा नार फाकडी अशी ।।
(चाल) बघ कशी उभी ही नेत्रादिक इंद्रियें ।
होऊनि मतिच्या नृत्यगानीं तन्मये ।
ती मृदंग वीणा हातीं घेऊनि स्वयें ।
ताल धरिती तिज सवें ।
सर्वहि निमग्न होऊनि रसी ।
शोभे नाटक शाला कशी ।। १ ।।

अहंकार हा राजा तेथें बैसे उच्चासनीं ।
मीपण वस्त्रातें लेऊनी ।
रूप देखुनि बुद्धीस्त्रीचे नृत्य गान ऐकुनीं ।

भुलला राजा फारच मनीं ।
मध्ये मध्ये तो वाहवा ऐसी काढी मुखांतुनि ध्वनी ।।
(चाल) बघ कसे मिळाले विषयांचे हे थवे ।
धन सुंदर कांता स्रक चंदन आघवे ।
उत्सुक पाहाया झाले नाटक नव्हे ।
रसिक मुखांतुनि वाहवा ऐकुनि फुगली बहु मानसी ।
शोभे नाटक शाला कशी ।। २ ।।

अहंकार नृप विषय इंद्रियें आली गेली जरी ।
साक्षी दीप जळे मंदिरी ।
नित्य अबाधित आत्मदीप हा न विझे कल्पांतरी ।
प्रकाशे आंत आणि बाहिरी ।
स्वस्थानस्थित स्थाणु परात्मा व्यापी जो स्थिरचरी ।
तोचि तूं परतुनि बघ अंतरी ।।
(चाल) बा तेल वातीविण नित्य जळे हा दिवा ।
अज्ञान काजळी फेडुनी बघ मानवा ।
लोपवील त्याचा प्रकाश तुझिया भवा ।
सद्‌गुरूंनी हे नाट्य दाविले कृष्णाच्या सुतुसी ।
शोभे नाटक शाला कशी ।। ३ ।।

नाटयदीप

जगत्रूपी रंगमंचपर नाटकही खेला जाता है । सर्वसाक्षी आत्मा अहंकार, मन, बुद्धि आदि को प्रकाशित करता है । नाटक, गृह के दीप के समान, उन सभी को प्रकाशित करते हुई भी, तटस्थ व निर्लिप्त रहता है । विषय तथा इन्द्रियों का परस्पर संनिवेश वस्तुत: बुद्धि तथा अहंकार ही के कारण है । नित्य साक्षी आत्मासे उनका कुछ भी सरोकार नहीं । नित्य निरंजन साक्षीभूत आत्मदीप सदैव प्रकाशित रहता है । जगत् के रंगमंच पर बुद्धि-रंभा या उर्वशी के समान–मनमाना नृत्य करके मोह-मत्सरादि विकारों से दर्शकों को मोहजाल में फँसाती है । बुद्धि स्त्रीरूपा है । उसके क्रिया कलाप, वेषभूषा विकार आदि के कारण सब इन्द्रियाँ उस पर लट्टू हो जाती हैं । उसके पीछे दौडने के लिये लालायित हो उठती हैं । उसके नृत्य से गीत से तथा अभिनयों से इन्द्रियों का आपा खो जाता है । बुद्धि के हाथ मानों मृदंग-वीणा है । सभी इन्द्रियाँ उसके अनुरूप ताल देती हैं । अहंता का वस्त्र जिसने परिधान किया है, जो उच्चासन पर आरूढ है वह अहंकार अपने रूपद्वारा विभूषित हो रहा है । बुद्धिरूपा स्त्री का रूप तथा नृत्य देखकर और उसके गीत सुनकर वह उस पर बिलकुल लुब्ध हुआ है । वह उसे बीच बीच में बढावा देता है । समूचे जगत् में जो कुछ है वह मैं ही अकेला हूँ, ऐसा वह मान बैठता

है। विषयों के समूह, सुन्दर कांता, चन्दन लेप आदि शृंगार को परिपुष्ट करनेवाले नित्यनूतन प्रसंग तथा पात्र रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। दर्शक भी इन्हीं बातों के लिये उत्सुक हैं। वे इन्हीं बातों को पसन्द करते हैं, बढावा देते हैं। सामाजिकों की अनुकूल प्रतिक्रिया देखकर बुद्धिरूपा नायिका अपनेही में मस्त रहती है। किन्तु यहीं पर नित्यसाक्षी दीप विषय-इंद्रियाँ, बुद्धि-अहंकार आदि को प्रकाशित करता है।

वस्तुत: यहाँका नाटच मानव श्रीगुरुकृपा से ही ठीक ठीक समझता है। उन्हीं के दिग्दर्शन से नाटच तथा सत्य का अन्तर सुस्पष्ट होता है। वह नित्यसाक्षी आत्मदीप तो सदा अबाधित गति से प्रकाशमान रहता है, किन्तु वह नाटच नहीं। आत्मदीप कभी बुझ नहीं सकता। सम्पूर्ण चराचर का अन्तर्बाह्य उसीसे प्रकाशित होता है। स्थिरचरव्याप्त परात्मा को अपने ही अन्दर-स्वस्थान स्थित-देखना आवश्यक है। यह दीप बिना तेलबाती के प्रकाशित है। दीप पर फैली अज्ञानरूपी कालिख को दूर करके उसे देखिये। वह दीपप्रकाश आपके भव को तथा भवभय को दूर हटायेगा।

सृष्टि की उत्पत्ति के पहले वही अद्वय परमात्मा था। वही अब जीवभाव से स्थित है। विष्णु, शिव आदि देवताओं में प्रवेश करके वही विष्णु, शिव आदि रूपों में उपास्य हुआ है। मनुष्य की देह में प्रवेश करके उपासक बना। सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापक परमात्मा ही–जो सृष्टि के पहले था, अब जगत्

तथा जगत्त्राता हुआ । जगत् में जीवरूप से, देवताओं में पूज्य रूपसे तथा मनुष्य में पुजारी होकर वही कर्ता कर्म तथा प्रेरक बन गया । जन्म जन्मतक ईश्वर की पूजा की गई है । उसे पूज्यरूप में स्वीकार किया गया है । अब यह इच्छा बलवती हुई कि वह परमात्मा प्रत्यक्ष दीख पडे । उसका स्वरूप दर्शन प्राप्त हो । जब इस प्रकार के विचार पर हम आरूढ होते हैं, तब प्रपंच तथा माया की मोहमयी सत्ता, बुद्धि की लुभावनी व्याप्ति नष्ट होती हैं । शेष रहता है केवल सत् स्वरूप ! स्वरूप ! केवल आत्मानुसन्धान ! दूसरा कोई भेद नहीं रह जाता ।

भेद दृष्टि ही बन्धन का कारण है । अभेदभाव ही मोक्षरूप है । वह आत्मभाव अभेदात्मक, अद्वय तथा आनंदघन है । भ्रांति के कारण ही द्वंद्व है, द्वैत है, अतः दुःख भी । द्वैत ही दुःखात्मक है और दुःख द्विधामूलक । इसी द्वैतको वेदान्त में 'बन्धन' कहा गया है । स्व– स्वरूपानुसन्धान को मोक्ष कहा गया है । अविचार तथा अविवेक के कारण बन्धरूपा व्यथा का निर्माण होता है । उसकी उचित औषधि है विवेक-विचार ! जब तक आत्मानुभूति नहीं होती, तबतक अन्तःकरण में नित्यानित्य का विवेक तथा सारासार का विचार स्थिर न रहेगा । उसे तबतक नहीं त्यागना चाहिए । अहन्ता का आविर्भाव ही जीवदशा है । उसका साधन मन है । जो सबका द्रष्टा है वही सचमूच स्वामी है । आत्मानुभवसंपन्न सद्गुरूही मोक्ष प्रदान कर सकेंगे ।

रस विमर्श

महाराष्ट्र सारस्वत में यही एक ऐसा अन्यतम ग्रन्थ है कि जिसमें तत्त्वज्ञान तथा काव्यत्व एकरूप हो गये हैं। श्री ज्ञानदेवजी ने ही उसको "भावार्थ दीपिका" नाम से विभूषित किया है। जो भावज्ञ है उसे चिंतामणि के ही समान इस ग्रन्थ के द्वारा अतुल ज्ञानराशि सुलभ होगी। सुख, समाधान, शांति तथा भावोत्कट परमानन्द इसी ग्रन्थद्वारा प्राप्त होगा। वस्तुतः ज्ञान तभी सार्थक बनता है जब कि उसका अनुष्ठान सहज हो सकता है। वस्तुतः बुद्धिका-महत्‌का-क्षेत्र विस्तृत है। वही ज्ञानलक्षी हो सकती है, किन्तु प्रकृति के मोहजाल में फँसी रहने के कारण शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध भाव नहीं अपना सकती। श्रीगुरुकृपा से बुद्धि का मोह हट जाता है और वहाँ विशुद्धभाव का निर्माण होता है। अनुष्ठान सहजरूप से होनेके लिये अंतःकरण में भाव की उपलब्धि अनिवार्य है। बिना भावके, कोई भी साधक साधनाक्षेत्र में अग्रसर नहीं हो सकता। जहाँ भाव है वहाँ अनायास ही आस्था, लगन, समर्पण तथा श्रद्धा आ जाते हैं। श्रद्धावान ही ज्ञान का श्रेष्ठ अधिकारी होता है।

भाव चित्तवृत्ति–विशेष को कहते हैं। एक प्रकार से वह वासना तथा संस्कार ही है। वह व्यक्तित्व का एक अंगरंग रूप, धर्म या प्रेरणा है। व्यक्ति को किसी कार्य में प्रेरित

करना या किसी कार्य के संस्कार को अनुभव करना इन्हीं भावों के–अंत:प्रवृत्ति के आधार पर संभव है। हरेक का जीवन अधिकांशत: भावपर ही निर्भर होता है। बुद्धि का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है। अध्यात्मशास्त्र में "भाव" की महत्ता बहुत अधिक है। 'भाव' के विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि, श्रेष्ठ प्रकार की सिद्धि ही मानी जाती है। भाव के विशुद्ध स्वरूप को पहचान कर उसकी आत्मीयता बढाना आवश्यक है। 'भाव' ही "स्वभाव" का मूल उपादान रहता है। विशुद्धभाव आत्मभाव को जगाता है। अत: साहित्यशास्त्र की चर्चा इसी दृष्टि से उपयुक्त होगी। यहाँ जो साहित्यशास्त्रीय उल्लेख किये गये हैं वे केवल अध्यात्म-शास्त्र के हेतु से ही हैं। साहित्यशास्त्र भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी तथा रस की चर्चा केवल साहित्यिक दृष्टि से करता है। यहाँ उस परिभाषा द्वारा अध्यात्मिक प्रयोजन को स्पष्ट करने का अल्प प्रयास किया जाता है।

साहित्यशास्त्र की दृष्टि से रस ही आस्वाद्य है। वह ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है। रस के द्वारा प्राप्त आनन्द अलौकिक तथा अपार्थिव है। रसास्वाद के समय चित्त की अवस्था द्रवरूप रहती है। अहंता तथा अहंकार का विलयन होता है। मन की इस अवस्था का अध्यात्मिक प्रयोजन भी है। साधना-क्षेत्र में चित्त-द्रुति नि:संशय उपयुक्त होती है। उससे उपासना सहज हो सकती है। मन की रसरूप स्थिति साधक को आगे बढाती है। रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया इस क्षेत्रमें भी पर्याप्त सहायक है। "सुमनस प्रेक्षक" या "रसिक"

जिन रसों का आस्वाद लेते हैं उनके आलंबन अगर अध्यात्मिक हों तो उनकी अनुभूति परतत्वसे जरूर स्पष्ट रहेगी। अतः श्रीज्ञानदेवजी ने भी कहा है कि– "रसिकत्वी परतत्त्व। स्पर्शु ऐसा" (रसिकता से भी परतत्त्व स्पर्श बढकर है)। सच्चे रसिक की रसानुभूति विशुद्ध भाव की आतमभाव की होती है। उसे अपनी सर्वस्पर्शी रसिकताद्वारा सर्वात्मस्पर्शी "रस" की अनुभूति लक्षित होती है। यहाँ "रसिक" "सिद्ध" या "भक्त" एक हो जाते हैं। उनका आतमभाव, आनन्द का अद्वितीय स्रोत बहाता है। अगर वह आलंबन अलौकिक–ईश्वर या आतमतत्त्व–हो तो वह निःसंशय "ब्रह्मानन्द" ही होगा। इस दृष्टि से रसनिष्पत्ति–प्रक्रिया अभ्यसनीय है।

नाटयसूत्र के कर्ता भरतमुनि का रसनिष्पत्ति संबंधी विख्यात सूत्र सभी साहित्य शास्त्रियों ने स्वीकृत किया है। "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।" इस सूत्र को लेकर अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी हैं। कतिपय आचार्यों ने अध्यात्मिक संकेत भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि के सयोग से रसनिष्पति होती है। पहले हम पारिभाषिक शब्दों के साहित्यिक तथा अध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट करेंगे।–

विभाव– रस के प्रकट होनेके ये कारण हैं। इन्हीं के द्वारा भाव, विशेषरूप से प्रकट होते हैं। विभाव दो प्रकार के हैं। (१) **आलंबन विभाव–** जिसके द्वारा स्थायीभाव प्रकट होता है, वह कारण आलंबन विभाव है। नायक, नायिका या

अन्य किसी व्यक्ति के कारण ही स्थायीभावों की स्थिति है। आत्मभाव प्रकट होनेके लिये व्यक्ति कारण है। वह आलंबन विभाव है। ईश्वर भी आलंबन विभाव है। दोनों की एकता-अद्वैत वस्तुतः आत्मरूप स्थायीभाव का आलंबन होगा। इस जगत् में जो कुछ अनात्म है वह अनित्य, अशाश्वत तथा अस्थायी होगा। आत्मभाव ही स्थायी होनेसे ऐसे अनुभव सिद्ध व्यक्ति आश्रय होंगे। साधकों के लिये ईश्वर ही सच्चा आलम्बन है अतः उनकी रसानुभूति के लिये आलम्बन विभाव। भगवान का रूप ही आलंबन विभाव है ! (२) **उद्दीपन विभाव** व्यक्ति के क्रियाकलाप, वचन, वेषभूषा आदि से भाव उद्दीप्त होते हैं। इन कारणों को ही उद्दीपन विभाव कहते हैं। वेदान्त विचार, तपोवन-निवास, साधु-संतों की सगति-दर्शन, भजन-पूजन, सदाचार आदि आत्मभाव को उद्दीप्त-जागृत करनेवाले विभाव हैं। समूचे जगत् का दर्शन उसी भगवान् का ही एक रूप है। यह अनुसंधान लिया हुआ, जो निर्हेतुक व्यापार होगा, वह भी उद्दीपन विभाव कहलायेगा।

अनुभाव- ये वस्तुतः कायिक चिन्ह हैं। भावों की उत्कट अवस्था में ये प्रकट होते हैं। भावों के अनंतर ये प्रकट होते हैं किन्तु ये भावों के सूचक हैं। अतः ये बाह्य व्यापार हैं। आत्मभाव की उपलब्धि होनेपर सर्वपराङ्मुखी वृत्ति, नासाग्र दृष्टि, निःस्तब्धता, उदासीनता, निर्विषय-स्थिति, ये अनुभाव प्रकट होते हैं। उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं रहती। अष्टसात्विक-भाव विशेषतः प्रसिद्ध हैं। स्वब्धता, स्वेद, रोमांच,

स्वरभंग, कंप, विकलता, आनन्दाश्रु, जीवभाव की विलीनता ये चिन्ह सात्विक रूपसे प्रकट होते हैं।

व्यभिचारी-संचारी भाव- ये स्थायीभाव को परिपुष्ट करते हैं। स्थायीभाव के साथ ही इनका संचार रहता है। रस के साथ इन विविध भावों का प्राकट्य अविरोधेन रहता है। एक प्रकार से य भाव सहकारी रहते हैं। जैसे कि उद्वेग, उत्कण्ठा, आर्ति व ध्यान, ध्यास आदि।

स्थायीभाव- स्थायीभाव ही रसरूप को प्राप्त होते हैं। स्थायीभाव किसी भी दूसरे भाव के कारण अवरुद्ध नहीं होते। वे सदा स्थायी रहते हैं। स्थायी और संचारी में अन्तर यह है कि स्थायीभाव प्रबल तथा स्थिर मनोभाव है तथा संचारी अपेक्षाकृत अस्थायी है। हास, शोक, उत्साह, भीति, जुगुप्सा, विस्मय, क्रोध, रति, शम, आदि प्रबल मनोभाव ही शृंगारादि रसों में परिणत होते हैं। जिन आलंबनों के कारण इनकी पुष्टि होती है उनपर अध्यात्मिक प्रयोजन निर्भर रहता है। उपर्युक्त प्रबल मनोभाव लौकिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अधिक सूक्ष्मता से विचार करने पर इनके मूल में एक ही भाव सम्भव है। वह "आत्मभाव" है। इससे सर्वस्पर्शी आत्मीयता प्रकट होती है। भिन्न भिन्न स्थायीभावों का आधार यही आत्मभाव है। सच्चे अर्थ में आत्मभाव ही स्थायी, अविनाशी तथा चिरंतन है। उसका स्फुरण अन्यभाव निरपेक्ष "रस" को- "आनन्द" को प्रदान करता है। यह रस परतत्त्व पर आलंबित होने से

ब्रह्मानन्द ही दिलाता है। सभी के अन्तःकरण में स्थित परमात्मभाव ही के कारण–आत्मनस्तु कामाय–परस्पर हास, शोक, उत्साहादि स्थायीभावों की उपलब्धि है. अनुभूति है तथा रसरूपता है। आत्मभाव ही परस्पर सापेक्ष तथा परस्पर निरपेक्ष विभिन्न भावों की जागृति का सच्चा आलम्बन होता है। भिन्न भिन्न भावों का उद्दीपन लौकिक रूप में आत्मलक्षी नहीं रहता। यही कारण है कि उससे उद्दीप्त भाव बाद में विकलता निर्माण करते हैं। रसास्वाद के बाद व्यक्ति आत्मतृप्त, प्रशांत नहीं होती। सच्ची रसात्मकता अलौकिक तथा अपार्थिव आत्मभाव पर निर्भर है।

रस– स्थायीभाव रस में परिणत होते हैं। रस एक प्रकार की प्रफुल्लित उत्कट चित्तवृत्ति है। वह विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के साथ स्थायीभाव का आनन्दपर्यवसायी परिणाम है। शृंगार, वीर आदि नौ रस मुख्यतः माने गये हैं। उपर कहा गया है, कि विभिन्न रसों के भिन्न भिन्न स्थायीभाव हैं, वैसे ही परतत्त्वस्पर्शी रसात्मक अनुभूती का स्थायीभाव आत्मभाव होगा। "रसो वै सः" "रसो ब्रह्मरसं लब्ध्वाऽनंदी भवति नान्यथा" आदि श्रुति वचनों में यही बात स्वीकृत की गयी है। परमेश्वर ही रस का स्थायीभाव है। वही सच्चा रस है। वही आलंबन, उद्दीपन तथा संचारी भाव है। जो कुछ भाव, विकार, अनुभूति है वह सब कुछ उसी की सर्वगामी, सर्वान्तिर्यामी लीला है। जब यह आत्मभाव उद्दीप्त होता है तब इन्द्रियों की हलचल अपने आप थम जाती है। वृत्ति

स्वरूपाकार रहती है। एक रस अखण्ड आनन्द का आविर्भाव होता है। वह प्रेम, आत्मीयता तथा आनन्द आत्मरूप होने पर भी विश्वात्मक रहता है। उसी में लीन रहने पर भगवान की लीलाओं का गुणगान अनायास ही होता है। उसे ही **महाभाव** कहते हैं।

रसनिष्पत्ति– रसनिष्पत्ति प्रक्रिया के बारे में भी भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। यह निःसंदेह है कि वाङ्मय संबंधी रसास्वाद ब्रह्मानन्द सहोदर है। वह अलौकिक तथा अपार्थिव रहता है। अतः रसनिष्पत्ति में आत्मभाव का कुछ अंश जरूर उद्दीप्त होता होगा। चित्त की रसरूप स्थिति लौकिक मनोभावों के कारण आनन्द को कुछ हदतक सीमित करती होगी। पूर्ण रूप से अविकल आनन्द की प्राप्ति ब्रह्मरस के सेवनद्वारा ही सम्भव है। आत्मभाव का आलंबन विभाव; वेदान्त श्रवण, लीलाचरित्र पठन, तपोवन आश्रय, सज्जन संगति आदि उद्दीपन विभाव; एकाग्रता, निरपेक्ष वृत्ति, निःस्तब्धता, आदि अनुभाव तथा अष्ट सात्विक भावों के संयोग द्वारा ढँका हुआ आत्मभाव–आनन्द अनावृत होता है। उसी उत्कट अवस्था में आत्मभाव का "रस" परमोच्च आनन्द के साथ आस्वाद्य होता है। वह अनुभव सचमुच ही अनिर्वाच्य है। यही तन्मय, तदाकार अवस्था अखंड रस तथा अविकल आनन्द प्राप्त कराती है।

रसास्वाद के लौकिक स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी

उसके द्वारा दार्शनिक तथ्य सुस्पष्ट करने का प्रयत्न भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने किया है। मनोविज्ञान तथा दर्शनशास्त्र का निकट सम्बन्ध यहाँ अनुस्यूत रहा है। रसनिष्पत्ति के पूर्व "साधारणीकरण" की भट्टनायक की कल्पना सर्वमान्य है। शकुन्तला, दुष्यन्त आदि पात्र व्यक्तिविशिष्ट नहीं रहते। निर्वैयक्तिकता की भूमिपर ये आरूढ होते है। विभाव, अनुभाव व्यभिचारी आदि की व्यक्ति विशिष्टता नष्ट होती है और वे "साधारण" "सर्वसामान्य" स्तरपर उतरते हैं। इसी कारण रसिकों के अन्तःकरण में तादृश भाव निर्माण होजाता है और रसनिष्पत्ति भी होती है। निर्वैयक्तिकता की भूमिपर 'सर्वसाधारण' अन्य मनोभावों का अस्तित्व मान्य किया है। दार्शनिक दृष्टिसे 'सर्वसाधारण' तो 'आत्मभाव' ही है। समानता से, सर्वत्र, अखंड तथा सर्वान्तिर्यामी 'आत्मा' सर्वसाधारण होकर भी अनन्य साधारण है। वही एक जीव तथा जगत् के बीच की निरन्तर शृंखला है। आत्मा तथा आत्मीयता ही सभी स्थायी भावों का, स्थायीभाव, रसों के आश्रय तथा रसनिष्पत्ति का आदिस्रोत है। शृंगार, वीर, करुणादि रसोंद्वारा उसी आत्मभाव के आत्मरस का आभास प्रतीत होता होता है। आत्मभाव आनन्द से ओतप्रोत तथा अखंडेक रस है। वही दर्शनशास्त्र का आस्वाद्य है।

भक्तिरस– भिन्न भिन्न रुचिके अनुसार भिन्न भिन्न रस श्रेष्ठ माने जाते हैं। कोई शृंगार को श्रेष्ठता प्रदान करता है तो कोई करुण को। दार्शनिक दृष्टिसे शांत रस तथा भक्ति

रस श्रेष्ठ हैं। दोनों का उद्देश्य समान है। निर्गुण तथा सगुण स्वरूपानुसंधान इन्हीं रसों के द्वारा अभीप्सित रहता है। शांत रस की अपेक्षा भक्तिरस को महत्व विशेष रूप से मान्यता प्राप्त है। भक्ति तथा शृंगाररस का निकट संबंध है। दोनों का स्थायीभाव यद्यपि "रति" है तो भी उनके आलंबन भिन्न हैं। शृंगार लौकिक आलंबन के कारण संभव है। भक्तिरस में रतिभाव परमेश्वर विषयक है। अतः वह आत्मभाव का सगुण रूप है। सभी संतोंने भक्ति की महिमा इसी लिये गायी है।

रतिरूप स्थायीभाव भक्तिरस में परिणत होता है। **परमेश्वर** विषयक प्रेम उसका मूलाधार है। भक्तिरस का आविष्कार चार प्रकार से होता है। उसकी चार अवस्थाएँ हैं। भगवत् प्रेम, उसके प्रति उत्कंठा, उसके गुण श्रवणोंद्वारा अन्तःकरण में अनुराग आदि से युक्त जो प्राथमिक अवस्था होती है, वही पूर्वराग है। भगवान् के अनुग्रह के पश्चात् उसका साक्षात् दर्शन होना यही प्राप्ति है। भगवत्प्रेम तथा सत्समागम की निरतिशय इच्छा तथा तदाभावात् अतीव दुःख होना यही विरह या वियोग है। फिरसे पुकारने पर मीलन।

वस्तुतः प्रेम ही भक्ति का विलाससर्वस्व है। प्रेमभाव में अष्टसात्विक भाव हैं। उसमें श्रीभगवान् का तेजोरूप किरण है। भक्तिरस में परिणत होनेवाला रति-स्थायीभाव भगवत्दर्शन के पश्चात् स्वयं फलरूप होता है।

भक्तिरस के अनुभाव–भक्तियुक्त अन्तःकरण से भगवान्

के गुण गानेसे वाणी गद्गद होती है। चित्त में रसार्द्रता, प्रेमार्द्रता का निर्माण होता है। भक्त भक्तिप्रेम के कारण बारबार आँसुओं की झडी लगा देता है तो कभी हँसता रहता है। प्रसंगवश भगवान् के सामने लज्जारहित होकर नृत्य भी करता है। इस प्रकार का भक्त अपनी भक्ति के कारण त्रिभुवन को पावन करता है। भक्ति के दर्शन में आह्लाद का सौभाग्य साकार होता है। अनिर्वचनीय आनन्द की उत्कट अनुभूती में होनेवाला स्वैर विहार ही यहाँ अनुभाव-कार्य है। देव प्राप्ति के कारण भक्त प्रसन्न है। बहुत दिनों पर मिलन हुआ अत: विस्मय ! भक्त का तो जीवन सफल हुआ। अलौकिक वस्तुदर्शन उसे प्राप्त हुआ।

भगवत् विरह– भगवान् से वियोग होने के कारण भक्त की अवस्था कठिन हो जाती है। उसे विरह सताता है। भक्तिरस की उत्कट अनुभूती में यह "विरह" कई प्रकार से प्रकट होता है। (१) भगवान का उत्कटता से स्मरण, (२) निद्रा का अभाव, (३) उद्वेग, (४) कृशता, (५) शरीर विषयक उपेक्षावृत्ति, (६) सुसंगत या असंगत प्रेमोद्गार (७) मानसिक तथा शारीरिक पीडा, (८) आत्मविस्मृति, (९) मूर्च्छा, (१०) देह समर्पण की भावना आदि का, पात्रभिन्नत्व के अनुरूप आविष्कार होता है।

निर्गुण तथा सगुण– भक्ति दोनों प्रकार से संभव है। निर्गुण भक्ति में निर्गुण आत्मभाव आलंबन होगा। निर्वेद

उसका स्थायी भाव है। वह उत्कटता से शांतरस का अनुभव प्रदान करता है। स्वरूपानुसंधान में साक्षात्कार स्वभाव सिद्ध है। वहाँ विश्वात्मक आत्मरूप अखंड शांत रसानुभूति से व्यक्ति को ओतप्रोत कर देता है। ज्ञानबोध का उदय होने से- तेजोराशि का उदय होने से अहंता का-अहंकार का अन्धेरा दूर होता है। द्वैत नष्ट होता है। द्वेषभाव ठहरता ही नहीं। जहाँ देखे वहाँ आत्मभाव की उपलब्धि होती है। यहाँ सच्ची आत्मीयता समूचे चराचर के साथ सामरस्य का अनुभव कराती है। महान् साक्षात्कार की स्थिति के कारण वह निर्गुण, निरतिशय आनन्द बोधगम्य होता है।

सगुण भक्ति का आनन्द कुछ और ही होता है। वह आत्मभाव के सगुणरूप पर निर्भर है। इंद्रियातीत होनेपर भी इन्द्रियों से उसका संपर्क रहता है। अत: विशुद्ध रूप में वह नि:संशय दुर्लभसा रहता है।

सगुण दर्शन– प्रेमभाव के कारण श्री भगवान की चतुर्भुज मूर्ति प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है। वेणुनाद सुन पडता है। अन्त:करण के अन्तर्मुखी होने पर देहबुद्धि नहीं रहती। भेद भाव लुप्त होता है। विश्वात्मक ऐश्वर्य व्यक्त होता है। विश्व के उद्धार के लिये श्री भगवान द्वारा जो लीलाएँ हुईं उनका अखंड स्मरण, गीतगायन, होते रहना परम मंगलप्रद है। जरूरी है कि यह अनिर्वचनीय साहित्य शोभा हृदय में गूँज उठे। रसिक भक्त के हृदय में मानवी जीवन की सफलता तथा

भगवान् श्रीकृष्ण की जीवन ज्योति प्रकाशित होती है। प्रेमरस के कारण चित्त आर्द्र होता है, तथा उसका चैतन्य के साथ सामरस्य होता है। भक्त के हृदय में श्री भगवान् विश्राम लेते हैं। उसके भजन से भगवान का चित्त डोल उठता है। कृपालु भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन देकर भक्तों को कृतार्थ करते हैं। भक्त का सारसर्वस्व श्रीचरणों में समर्पित होता है। पुकारने पर प्रभु जल्दही आता है, विलंब नहीं होता। इसी प्रकार अंत:करण जागृति में जीवन का उष:काल है। अन्त:करण की निर्मल अवस्था में वह तेजोराशि उदित होती है और भक्त लीन रहता है।

परमात्मा– अमृत स्वरूपी आनन्दघन परमात्मा संतोंकी कृपासे ही सुलभ बनता है। भक्त हृदय में विश्राम करता है। उनकी बाहुओं में बद्ध रहता है। अन्त:करण की स्फूर्ति में प्रकट होता है। प्रेममयी प्रार्थना में गूँजित रहता है। आसुओं की झडी में बहता है, उसकी स्मृतिमें, लीलाओं के गायनों में वह प्राप्त होता है। भगवान् का प्रेम दुर्लभ है। उसकी प्रेमज्वाला में जलनेवाला भक्त ही उसको प्रकट कर सकता है। भगवान् का ध्यान उसे प्रकट करता है। काष्ठमें सर्वत्र अग्नि व्याप्त है किन्तु जहाँ घर्षण होता है वहीं केवल उसका प्राकट्य होता है। चिन्तन, निदिध्यासन, स्मरण आदि के घर्षण द्वारा ही श्री भगवान् का साक्षात् होता है।

भारतीय साहित्य शास्त्र की परिधि लौकिक तथा अलौकिक

अनुभूति की ओर संकेत करती है। विशेषत: भक्ति तथा शांतरस का निरूपण यद्यपि लौकिक स्तर पर होता है, तथापि उसका अधिकांश प्रयोजन अध्यात्मिक दृष्टिसे ही सिद्ध होता है। रस तथा उसका आस्वाद चित्तवृत्ति को विशेष प्रकार से आल्हादित करता है। रसानन्द के साथही परतत्व स्पर्श तथा दिव्य आत्मानुभव की प्रतीति भक्ति तथा शांतरस द्वारा सम्भव है। यह एक ऐसा सरल मार्ग है जो गन्तव्य स्थान को अनायास पहुँचाता है। आशा है कि– काव्य, तत्त्वज्ञान तथा आनंदानुभव को उपर्युक्त चर्चा साधक की दृष्टिसे भी उपयुक्त सिद्ध होगी।

–म. दा. बरसावडे

वाराणसी गया पाहिली द्वारका ।
परी नये तुका पंढरीच्या ।। १ ।।

पंढरीसी नाही कोणा अभिमान ।
पायां पडे जन एकमेकां ।। २ ।।

तुका म्हणे जाय एकवेळ पंढरी ।
तयाचिये घरी यम न ये ।। ३ ।।

श्री संतप्रवर तुकारामजी कहते हैं, कि हम वाराणसी तथा गयाका दर्शन कर चुके हैं किन्तु उनकी बराबरी पंढरपूर के साथ नहीं हो सकती । सबके मनमें पंढरपूर के प्रति अतीव निष्ठा तथा अभिमान है । वहाँ लोग परस्पर नमस्कार करते हैं, एक दूसरे के पैर छूते हैं, जो एक बार भी पंढरपूर जाता है उसके घर यमराज कभी नहीं जायेगा ।

——:※:——

उमा रमा एकी सरी । वाराणसी ते पंढरी ।। धृ० ।।

दोघे सारिखे सारिखे । विश्वनाथ विठ्ठल सखे ।। १ ।।

तेथें असे भागीरथी । येथे जाण भीमरथी ।। २ ।।

वाराणशी त्रिशुलावरि । सुदर्शनावरि पंढरी ।। ३ ।।

मनकर्णिका मनोहर । चंद्रभागा सरोवर ।। ४ ।।

वाराणशी भैरवकाळ । पुंडलीक क्षेत्रपाळ ।। ५ ।।

धुंडिराज दंडपाणी । उभा गरुड कर जोडुनी ।। ६ ।।

गया तेच्चि गोपाळपुर । प्रयाग निरानरसिंगपुर ।। ७ ।।

तेथे असती गयावळ । येथे गाई आणि गोपाळ ।। ८ ।।

शमीपत्र पिंड देती । येथे काला निजसुखप्राप्ति ।। ९ ।।

संत सज्जनी केला काला । तुका प्रसाद लाधला ।। १० ।।

सभी क्षेत्रों से वाराणसी का महत्व बढ चढकर है। श्री तुकाराम महाराज की दृष्टि से वाराणसी तथा पंढरपूर में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं। वे कहते हैं "श्री उमा तथा श्रीरमा दोनों समान हैं। श्री विश्वेश्वर तथा श्री विठ्ठल दोनों परस्पर मित्रही हैं। दोनों एकरूप ही हैं। वहाँ पावन गंगामैया है, यहाँ श्री चंद्रभागा (भीमरथी) बह रही है। त्रिशूल का आधार वाराणसी के लिये है तो यहाँ पंढरपूर के लिये सुदर्शन का सहारा है। मनोहर मणिकर्णिका वाराणसी में है, और यहाँ चंद्रभागा का रमणीय सरोवर। वाराणसी का क्षेत्रपाल कालभैरवजी हैं, तो पंढरपूर में पुंडलिक। श्री धुंडिराज दण्डपाणी वहाँ हैं, यहाँ गरुडजी हाथ जोडकर खडे हैं। वहाँ गया है तो यहाँ गोपाळपूर। निरानरसिंगपूर प्रयाग के समानही है। वहाँ गयावाळ है, तो यहाँ गौअें और गोपाल। शमीपत्रों के साथ वहाँ पिंडदान होता है। यहाँ जो दही आदि के साथ श्री भगवान का निश्चित प्रसाद होता है। उससे ही वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है। सभी संतसज्जन यह प्रसाद तैयार करते हैं। श्री तुकाराम महाराज को भी यह प्रसाद-संतोष-सुख प्राप्त हुआ है।"

कुछ सम्मतियाँ

(प्रथम संस्करण के संबंध में)

महावैय्याकरण वेदशास्त्रसंपन्न

श्रीदत्तात्रेय रघुनाथशास्त्री दाणा प्रणीतः ।

देशे भारत संज्ञीते ऽस्ति भगवान् दृङ्मात्र द्रष्ट्रयात्मकः ।
ज्ञानेशश्च चकार वृत्तिमखिलां भावार्थचिद्दीपिकाम् ॥
तद्बोधार्थमियां सुबोधिनी वृतीम् पुण्यात्मकश्चाकरोत् ।
अध्यायं च तृतीयकं विवृतवान् हिंद्या गिरा माधवः ॥

प्रत्यक्षानुभवामृतेन निखिलं विश्वं समुद्धारितम् ।
यः सिद्धयादिभिरन्वितो विजितवान् विप्रांश्च वेदोत्कटान् ॥
येनेषा पदवी 'जनस्यजननी' संपादिता मानवात् ।
ज्ञानेशाय नमो निवृत्तिगुरवेऽलंकापुरीवासिने ॥

वैराग्यो परमो च यस्य वसतः चेतस्यनारोपिते ।
कामाद्यैर्रिपुभिः समाहितमतिः सच्चित्स्वरूपं गुरुः ॥
येनास्मिन्नगरे सदा निवसितः फलटणपुरी शोभिता ।
तस्मै सद्गुरवे नमोऽस्तु सततं सच्चित्स्वरुपाय च ॥

(२) ज्ञानेश्वरी गीता का पद्यमय भाष्य है । सन्त ज्ञानेश्वर ने केवल मराठी भाषा को ही नहीं; अपितु समग्र भारतीय भाषाओं के लिये ज्ञानेश्वरी के रूप में यह वरदान दिया है । गीता, विश्व धर्म का रहस्यमय वरदान है । इस रहस्य को एक वर्तमान भाषा के कलेवर में सन्त ज्ञानेश्वर ने विश्व-मानव के लिये सुलभ बनाया । ज्ञानेश्वरी का अनुवाद विश्व की सब भाषाओं में होना चाहिए । इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय का मराठी भाष्य डॉ० गो. रा. उपळाईकर ने किया । इससे ज्ञानेश्वर का रहस्य मुखर हो गया है । उपळाईकर जी के ज्ञानेश्वरी भाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करके श्री म. दा. बरसावडेजी ने हिन्दी भाषी जनता का बडा उपकार किया है । पूरी ज्ञानेश्वरी का इस तरह का भाष्य लिखा जाना चाहिए । मराठी के किसी मर्मज्ञ विद्वान को गीता के इस पद्यमय भाष्य का सम्पूर्ण वृहद्भाष्य प्रस्तुत करने का संकल्प लेना चाहिए । यदि ऐसा संभव हो सका तो हिन्दी साहित्य को एक अनुपम निधि अपनी सम्पूर्णता में प्राप्त हो सकेगी ।

डॉ० रामनिरंजन पाण्डे

एम. ए (संस्कृत); एम. ए. (हिंदी); एल्एल्. बी. (बी. एच्. यू.)
साहित्य शास्त्री, वेदांत शास्त्री, पी. एच्डी., (नागपूर)
प्राध्यापक और प्रमुख : हिंदी विभाग, उस्मानिया
युनिव्हर्सिटी, हैदराबाद

(३) ग्रन्थ में स्वानुभव तथा गम्भीर चिन्तन की छाप है तथा अनुवाद भी सुन्दर बन पडा है। श्री उपळेकर महाराज के चरणों में मेरे प्रणाम तथा श्री बारसोडे को साधुवाद।

भवदीय,
विश्वनाथ मिश्र
जिला तथा सत्र न्यायाधीश.

(४) आपने मराठी भाषा के कविकुल सरसिज हंस श्री संतश्रेष्ठ श्री ज्ञानेश्वर महाराज के भाषाललाम भूत ग्रन्थ श्री ज्ञानेश्वरी की श्री सुबोधिनी टीका ग्रन्थ लिखने का जो महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। अत्यन्त सरल तथा ओघवती प्रासादिक वाणी, दैनंदिन जीवन के व्यापार में प्राप्त अनुभवों के दृष्टांत इनके आधार पर श्री ज्ञानेश्वरी के अत्यन्त गूढ अध्यात्मिक तत्त्वों को सामान्य वाचक को समझाने का प्रयास किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पढने पर ही वाचक की परितृप्ति होती है।

हिन्दी अनुवाद के लिये केवल इतनाही कहना पर्याप्त है कि वह अत्यन्त सरल तथा सुस्पष्ट हुआ है। अध्यात्मिक विषय के गूढ तत्त्वों का व्याख्यात्मक स्पष्टीकरण, योग्य तथा समर्पक अर्थ के शब्द चयन द्वारा किया गया है। विषय विशद करने में अनुवादक महोदय की निजीशैलीका परिचय मिलता है।

मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ श्री ज्ञानेश्वरी के समझने के लिये एक मार्गदर्शक दीपस्तंभ का कार्य करेगा।

द. ल. पाटील B. A., B. Ed.
हिन्दी विभाग प्रमुख शासकीय प्रशाला, सोनपेठ.

(५) प्रातःस्मरणीय संत प्रवर श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज की महान् कृति 'श्री गीता ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी' को पढने का सुयोग प्राप्त हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय कर्मयोग की विस्तृत व्याख्या इसमें अंकित है। सरल और बोधगम्य हिन्दी में इसे प्रस्तुत करके, रूपांतरकार तथा प्रकाशक ने राष्ट्र का महान उपकार किया है। मानव के मन को जडता के अन्धकार से निकाल कर क्रियाशील चैतन्य प्रकाश की ओर ले जाने में यह रचना सदियों से अद्भुत कार्य करती आ रही है। इसकी उपादेयता मानव के लिए, चिरकाल तक बनी रहेगी। जब कभी राष्ट्र को अकर्मण्यता और दैन्य के तमघन ढक लेंगे, यही ग्रन्थ प्रभंजन का सा काम करके राष्ट्र नभ को यथा पूर्व निर्मेघ और निर्मल बना देगा। इसमें लवलेश भी शंका नहीं है। भारत इधर पिछले डेढ दो सौ वर्ष तक पराधीनता के पंक में फँसा रहा। उसकी सारी शक्तियाँ जैसे सुप्त हो रहीं, कुण्ठित रह गईं। उसमें फिरसे प्राणरस फूँककर, उसकी तन्द्रा को हटा कर, फिर से उसे कर्तव्य-पथ पर लगान की आवश्यकता, इस समय जितनी है, उतनी संभवतः इसके पूर्व नहीं रही। युग की यह मांग आज से कोई साठ वर्ष पूर्व तिलकजी महाराज ने अनुभव की और अपने माण्डले के कारावास में गीता रहस्य का उद्घाटन करके कृतकार्य बने। उही राष्ट्रीय मांग की पूर्ति आज फिर 'श्री ज्ञानेश्वरी' का विवरणसहित अनुवाद राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत करके भाई श्री म० दा० बरसावडे ने स्तुत्य कार्य किया है। इस हिन्दी अनुवाद का मूल, मराठी में, श्रद्धेय डॉ० गो रा. उपळाईकर जी ने

तैयार किया है। संत प्रवर श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज का हृदय जानने में श्री उपळाईकर जी को अत्यधिक सफलता मिली है। और उसका सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत करने में श्री बरसावडे भी सफल हुए हैं। मूल संस्कृत श्लोक की ग्रंथियों को खोलने में महाप्रभु श्री ज्ञानेश्वर ने जो क्षमता दर्शाई है, वह तो अद्वितीय है। और क्यों न हो ? वे तो रहे, ऋषि, द्रष्टा जिनके सम्मुख भगवान की गुप्त अनन्त विभूतियाँ, अपने आप खुल पडती थीं। और वे उनका यथातथ चित्रांकन करते गये थे। महाराष्ट्र की वीरप्रसू भूमि, वीरत्व को प्रबुद्ध करनेवाली ऐसी रचना को जन्म दे, वह सहज ही था। इस सुन्दर पुस्तक का प्रचार व प्रसार जितना अधिक होगा उतना ही राष्ट्र का कल्याण होगा। इस अत्यावश्यक काम को संपन्न करते में आदरणीय श्री राजा त्र्यंबकराज (रायरायान) का हाथ रहा, यह उनके लिए सौभाग्य का विषय है। इसे राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाश में लाकर उन्होंने हिन्दी पाठक जगत को अपने प्रति उपकृत बना लिया है। उनका यह प्रयास पूर्ण रूपेण सफल बने, यही योगेश्वर प्रभु के श्री चरणों नम्र अभ्यर्थना है।

इतिशम्

श्रावणी पूर्णिमा, वाराणसी राममूर्ति रेणु एम्.ए.
१-८-१९६६ सोमवार. हैदराबाद.

(६) ... .The translation is excellent As it also contains the Marathi version, it will help me to pick some Marathi. The Hindi explana-

tion is of high excellence.

L. L. JOSHI
Govt. Educational Board
AJMIR.

(७) ज्ञानेश्वरी का जितनाही अध्ययन किया जाय उतनेही अमूल्य भावरत्न इस ज्ञान-भक्ति महोदधि से निकलते जाते हैं। ऐसेही गम्भीर अध्येताओं में श्री डॉ. उपळेकरजी हैं जिन्होंने अपने भावरत्नों को सुबोधिनी के नामसे पिरोया है। सुबोधिनी के तीसरे कर्मयोग नामक अध्याय का हिन्दी अनुवाद श्री राजासाहब ने प्रकाशित कराया है। ज्ञान भक्ति और काव्यरस से ओतप्रोत इस ग्रन्थ का प्रकाशन, हिन्दी भाषा में करके प्रकाशक ने सारे भारत का अपूर्व हित किया है। या यों कहे अपूर्व सेवा की है। अनुवादक मराठी और हिन्दी के विद्वान है।

– पं. भीष्मदेव शास्त्री,
साहित्याचार्य, हैद्राबाद.

(8) The अनुवाद in Hindi by Barsavade is much appreciated as the true spirit and essence of Geeta, as depicted in luminous and heart-penetrating words of पू. Dr. Upalekar manifests itself. A fine illustration of Hindi अनुवाद is on page 46. ओवी " जैसे जळी जळे न सिंपे पद्मपत्र " – कर्मयोगी को देह को धारण करते हुए भी देह के विकार विषय उसे चिपकते नहीं।

The third line on last page is the essence

valuable intution spiritio."

RAMBABA DAMLE
B. A., LL. B.
Yeotmal.

(९) पुस्तक मिला बहुत आनन्द हुआ। शब्दों का अर्थ अति कोमल शब्दों में दिया हुआ है। उस से पुस्तक समझने में प्रयास करना नहीं पडता। अर्थ सहज समझ में आजाता है।

— रामचन्द्र गोविन्द

(१०) "अगदी सोप्या भाषेंत भगवद्गीता ज्ञानेश्वरीतील तत्वें तुम्ही सांगितली आहेत त्यामुळें संसारांतील अडचणीच्या वेळीं धीरानें प्रसंगास तोंड देण्यास मराठी व हिन्दी माणसाला मार्गदर्शक असें हें पुस्तक झालें आहे. या पुस्तकामुळें हिन्दी भाषिकांची मोठी सोय होईल आणि ज्ञानेश्वरीतील अमृतानुभव आपल्या रसाळ वाणीतून त्यांना समजेल।"

— ग. के. पुराणिक
डी. २।ए. ७५ मोतीबाग, नई दिल्ली.

(११) महाराष्ट्र के फलटण नामक स्थान के वासी आदरणीय डॉ. गोविन्द रामचन्द्र उपळाईकरजी अनेक वर्षों से एक साधनामय संतजीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्होंने ज्ञानेश्वरी का वर्षों अभ्यास करके 'श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी' नामक ग्रंथ मराठी भाषा में प्रस्तुत किया है जिसे ज्ञानेश्वरीपर एक प्रकार

का भाष्यही समझना चाहिए ।

श्री उपळाईकर महाराजजी ने इस अध्याय में अनेक दृष्टांत उपमाओं और तर्कों के आधार पर विषय का बडा सरल और रोचक विवेचन किया है। श्रद्धालु भक्तों को कर्मयोग जैसे जटिल विषय को समझने में इस ग्रन्थसे बडी सहायता मिलेगी ।

रामेश्वरदयाल जायसवाल, वैद्य भूषण,

एम. ए., एल्‌एल्. बी., डी. आय. ई. एस. एस.

साहित्याचार्य, सहाय्यक आयुर्वेद संचालक,

महाराष्ट्र राज्य, पुणें.

(१२) ज्ञानेश्वरी के अनिर्वचनीय भावों को समझकर अधिकार और पात्रता के साथ श्री सद्‌गुरु डॉ. गोविन्दराव महाराज उपळेकर ने ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी में अपनी टीका और भाष्यसहित प्रस्तुत किया ।

डॉ. उपळेकरजी के तात्विक विचारों को हृदयंगम करते हुए श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी अध्याय ३ का सरल, सुरस हिंदी अनुवाद श्री महादेव बरसावडे ने किया है। इसकी भाषा विद्वान हिन्दी लेखक की ज्ञानेश्वरी में पैठ को सिद्ध कर देती है । अनुवादक का दोनों भाषाओं पर समान अधिकार सिद्ध होता है। श्री बरसावडेजी ने भाव, रस और अलंकारों को भी यथास्थान और सम्यक रूपसे समझाया है। मेरी राय में यह हिन्दी अनुवाद कॉलेज के छात्रों के लिये भी तात्विक

अध्ययन की दृष्टि से उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

न. चि. जोगळेकर,
एम. ए., पीएच्. डी.
पूना विश्वविद्यालय, पूना.

(१३) जितना सुन्दर ग्रन्थ है उतनीही सुन्दर उसकी टीका है। टीका से दुरूह स्थलों के स्पष्टीकरण में सहायता प्राप्त होती है। गूढ अध्यात्मिक तत्त्वोंपर ही नहीं, उससे साहित्यिक सौंदर्य से पूर्ण स्थलों पर भी सुन्दर प्रकाश पडता हैं। उससे ज्ञानेश्वरी सामान्य जन के लिये भी सुलभ हो गयी है।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
एम. ए., डी. फिल्., डी. लिट्.
इलाहाबाद.

(१४) अनुवाद मैंने गौर से देखा। प्रयास सफल हुवा है। डॉ. उपळाईकरजी ने ज्ञानेश्वरी का यह हिस्सा बडी सरलता एवं अर्थपूर्ण पद्धति से समझाया है। उनके भावों को हिन्दी में प्रकट करने का श्री बरसावडेजी का प्रयत्न काफी अच्छा है। भाषा एवं भावों की दृष्टि से अनुवाद ऊंचे दर्जे का है। शैली सरल एवं रोचक है।

बलराम वनमाली,
एम. कॉम्., साहित्यरत्न, राष्ट्रभाषा रत्न,
सीनिअर प्रोफेसर, गो. से. वाणिज्य
महाविद्यालय, वर्धा.

(१५) श्री. ज्ञानेश्वरी का तृतीय अध्याय, "कर्मयोग" है। मातृभाषा में अनुवादित इस पुस्तक के भाव, रस, अलंकारादि से चित्त प्रसन्न और प्रफुल्लित हो जाता है। यह श्री. मातातुल्य जगदवंद्य संतशिरोमणि श्री. ज्ञानेश्वर महाराज का ही प्रकाश और प्रसाद है। इसका स्थान तथा आश्रय श्री. ज्ञानेश्वर महाराज के ही चरण कमलों में है।

रामसेवकदास
विशारद हिंदी साहित्य
सम्मेलन प्रयाग;
महन्त श्री. बालाजी संस्थान
फलटण.

——:⁂:——